॥ ॐ ॥

प्रार्थना

[प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है]

मेरे नाथ,
आप अपनी
सुधामयी,
सर्वसमर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुखी प्राणियो के हृदय में
त्याग का बल,
एवम्
सुखी प्राणियो के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दुख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जांय।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

परिचय

"सत्य अनन्त है, पुस्तक आदि मे सीमित नही हो सकता। सत्य अपना परिचय देने मे स्वय स्वतन्त्र है।" ये शब्द है उन सन्त के, जिनकी अमृत-वाणी इस पुस्तक मे सगृहीत हुई है। इसी अटल सत्य को लक्ष्य मे रखकर आग्रह करने पर भी स्वामी जी ने अपना शरीर-सम्बन्धी नाम तथा चित्र इस पुस्तक के साथ देने की अनुमति नही दी। इस सत्य का आदर करना मेरे लिए भी अनिवार्य है। अतः जो सत्य स्वामीजी की वाणी के रूप मे प्रकट हुआ है, उसके सम्बन्ध मे अपनी ओर से कुछ कहने या उसका परिचय देने की चेष्टा करना मेरे लिए धृष्टता होगी। वह तो स्वय प्रकाशमय है और केवल अपना परिचय देने मे ही नही, बल्कि श्रद्धालु पाठको के हृदयो को भी आलोकित करने मे स्वय समर्थ है। मुझे जो कुछ कहना है, वह केवल इस सग्रह के विषय मे है, क्योकि इसका एक इतिहास है, जिसका सक्षेप मे यहाँ देना अप्रासगिक न होगा।

सन् १९४० ई० मे लखनऊ के कुछ भक्तो को श्री स्वामीजी के सत्सग का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे भक्त स्वामीजी के शब्द लिपि-बद्ध करते गये। पीछे से श्री गणेशप्रसाद जी तथा श्री नानकप्रसाद जी के प्रयत्न से उनकी वाणी का वह सग्रह "सन्त-समागम" के नाम से छप गया है। अत सन्त-समागम को पुस्तक रूप मे लाने का मूल श्रेय इन्ही महानुभावो को है।

कुछ ही समय वाद सौभाग्य से श्री स्वामी जी का अजमेर मे आगमन हुआ और वहाँ मुझे भी उनके दर्शन तथा सत्सग मे सम्मिलित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उस सत्सग में उनके मुखारविन्द से निकले उपदेश भी लिख लिए गये। अपने तथा मित्र-वर्ग के लाभार्थ उन्हे छपाने का विचार हुआ। खोज करने पर मित्रो की कृपा से स्वामीजी के कुछ पत्र भी प्राप्त हो बये, जो उन्होंने भक्तो की उलझने सुलझाने के लिए लिखाये थे। इस प्रकार सन् १९४२ ई० मे, लखनऊ से प्रकाशित "सन्त-समागम" अजमेर के उपदेशो का सग्रह और उन पत्रो को मिलाकर सन्त-समागम अपने सर्वद्धित रूप मे प्रथम बार अजमेर से प्रकाशित हुआ।

जिज्ञासुओ में पुस्तक की इतनी माँग हुई कि दो ही वर्ष के भीतर प्रथम बार छपी २००० प्रतियाँ समाप्त हो गयी। कई पत्रिकाओ ने भी अपनी समालोचनाओ मे पुस्तक का हार्दिक स्वागत किया। एक ने लिखा कि "जटिल से जटिल दार्शनिक तत्वो तथा आध्यात्मिक रहस्यो की अभिव्यक्ति इतने सीधे सादे निर्विवाद ढग से अन्यत्र देखी नही गई"—आदि। अनेक महानुभावो ने सराहा कि भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि मार्गो का स्वामीजी के उपदेशो मे अनूठा विवेचन पाया जाता है एव जिस सत्य को सभी मार्ग खोजते हैं, पर जो एक प्रकार से मार्गातीत है, उसका सकेत भी अधिकारी-गण इन उपदेशो मे पाकर कृत-

कृत्य होते है। फलतः पुस्तक की माँग वढती ही रही। अन्य कार्यो से मुझे अवकाश न मिलने के कारण प्रथम भाग के दूसरे तथा तीसरे सस्करण प्रकाशित करने के लिए दिल्ली के मानव-धर्म-कार्यालय के सचालक श्री दीनानाथ जी 'दिनेश' को कष्ट देना पडा। उन्ही के सहयोग से वे सस्करण निकल सके, जिसके लिए वे हमारे धन्यवाद के पात्र है।

भक्तो मे स्वाजी के अन्य उपदेशो को भी पुस्तक-रूप मे प्राप्त करने की इच्छा प्रवल होती गई। कुछ भक्तो की प्रार्थना पर स्वामी जी ने "हमारी आवश्यकता", "शरणागति-तत्व" और "परिस्थिति का सदुपयोग" नाम के तीन निवन्ध भी लिखवाये, जो पृथक-पृथक पुस्तिकाओं के रूप मे प्रकाशित भी हुए,। अन्त मे ये तीनो पुस्तिकाये, स्वामी जी के अन्य उपदेश, (जिनमे से कुछ 'कल्याण' आदि मे प्रकाशित हो चुके थे) तथा अप्रकाशित पत्र सगृहीत किये गये और वे सन्तसमागम के दूसरे भाग के रूप मे प्रकाशित हुए। यह दूसरा भाग भी श्री दिनेश जी के सहयोग से ही प्रकाशित हुआ।

गतवर्ष स्वामीजी की प्रेरणा से "मानव-सेवा-सघ" की स्थापना हुई। तव कुछ भाईयो ने यह इच्छा प्रकट की कि स्वामी जी की वाणी का प्रकाशन और प्रचार 'सघ' के द्वारा ही होना उचित है। इसी इच्छा का आदर करके सन्त-समागम के दोनो भाग 'मानव-सेवा-सघ' द्वारा प्रकाशित किये जा रहे है।

सन्त-समागम पुस्तक के रूप मे नही लिखा गया है और न वह क्रम-बद्ध निवन्धों का सग्रह ही है। सत्सगो मे जिस क्रम से प्रश्न उठे, उसी क्रम से उनके उत्तरो का सग्रह किया गया। इसी प्रकार पत्र भी विषय के अनुसार क्रमबद्ध न होकर प्राय लिखे जाने की तिथियो के क्रम से ही रक्खे गये है। पुस्तको के विभिन्न अंश विषय को दृष्टि मे रखकर जिस प्रकार की स्वाभाविक श्रृङ्खला मे गुफित रहते है, उस प्रकार की श्रृङ्खला का यहाँ अभाव है। पुस्तक पढते समय इस वात का ध्यान रखना चाहिए। पत्रो मे भी व्यक्तिगत प्रश्नो का उत्तर तथा व्यक्तिगत-समस्याओ को सुलझाने का प्रयत्न है, अत. प्रसग के अनुसार ही सव कही अर्थ लगाना समीचीन हो सकता है। कई बाते प्रसग-वश अनेक वार भी आ गई है, किन्तु उन्हे भिन्न-भिन्न रूप मे पढ़ने से समझने मे सहायता ही मिलती है।

जयपुर
अनन्त चतुर्दशी,
सवत् २०१० विक्रमीय

मदन मोहन वर्मा
प्रधान
मानव सेवा सघ

प्रकाशकीय

सन्त-समागम भाग १ का यह सातवाँ सस्करण है। पूर्व सस्करण की अशुद्धियो को ठीक करके छपाने की चेष्टा की गई थी। फिर भी कुछ अशुद्धियाँ रह ही गई है। जिसका हमे खेद है। प्रेमी पाठक पुस्तक के अन्त मे दिए गए शुद्धि-पत्र देख लेने की कृपा करेंगे।

—मा. से. सं.

कृत्य होते है। फलतः पुस्तक की माँग वढती ही रही। अन्य कार्यो से मुझे अवकाश न मिलने के कारण प्रथम भाग के दूसरे तथा तीसरे सस्करण प्रकाशित करने के लिए दिल्ली के मानव-धर्म-कार्यालय के संचालक श्री दीनानाथ जी 'दिनेश' को कष्ट देना पडा। उन्ही के सहयोग से वे सस्करण निकल सके, जिसके लिए वे हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

भक्तो मे स्वाजी के अन्य उपदेशो को भी पुस्तक-रूप मे प्राप्त करने की इच्छा प्रवल होती गई। कुछ भक्तो की प्रार्थना पर स्वामी जी ने "हमारी आवश्यकता", "शरणागति-तत्व" और "परिस्थिति का सदुपयोग" नाम के तीन निवन्ध भी लिखवाये, जो पृथक-पृथक पुस्तिकाओ के रूप मे प्रकाशित भी हुए,। अन्त मे ये तीनो पुस्तिकाये, स्वामी जी के अन्य उपदेश, (जिनमे से कुछ 'कल्याण' आदि मे प्रकाशित हो चुके थे) तथा अप्रकाशित पत्र सगृहीत किये गये और वे सन्तसमागम के दूसरे भाग के रूप मे प्रकाशित हुए। यह दूसरा भाग भी श्री दिनेश जी के सहयोग से ही प्रकाशित हुआ।

गतवर्ष स्वामीजी की प्रेरणा से "मानव-सेवा-सघ" की स्थापना हुई। तव कुछ भाईयो ने यह इच्छा प्रकट की कि स्वामी जी की वाणी का प्रकाशन और प्रचार 'सघ' के द्वारा ही होना उचित है। इसी इच्छा का आदर करके सन्त-समागम के दोनो भाग 'मानव-सेवा-सघ' द्वारा प्रकाशित किये जा रहे है।

संत-समागम

भाग १

लखनऊ का सत्संग

४ जनवरी १९४०

ध्यान किस प्रकार हो सकता है। ध्यान करने वाले महानुभावो को यह भली प्रकार जान लेना चाहिये कि वे किसका ध्यान करना चाहते हैं, क्योकि ध्येय के ज्ञान के विना ध्यान किसी प्रकार नही हो सकता और प्रेम-पात्र का ज्ञान होने पर ध्यान अपने आप हो जाता है, क्योकि जिसका ज्ञान नही होता उसका ध्यान किसी प्रकार नही हो सकता।

ध्यान का फल ज्ञान से ससार के बधन टूट जाते हैं और ध्यान से आनन्द की अनुभूति होती है। बधन टूटते ही संसार की वासनाओ का त्याग हो जाता है। इससे ज्ञान होने पर ध्यान स्वय हो जाता है।

कर्म क्यों होता है? जब तक हृदय मे किसी प्रकार की विलासिता जीवित है तब तक ही शुभ तथा अशुभ कर्म मे रुचि होती है।

सन्त-समागम

भाग-१

पृष्ठ

संत-समागम

भाग १

लखनऊ का सत्संग

४ जनवरी १९४०

ध्यान किस प्रकार हो सकता है। ध्यान करने वाले महानुभावो को यह भली प्रकार जान लेना चाहिये कि वे किसका ध्यान करना चाहते हैं, क्योकि ध्येय के ज्ञान के विना ध्यान किसी प्रकार नही हो सकता और प्रेम-पात्र का ज्ञान होने पर ध्यान अपने आप हो जाता है, क्योकि जिसका ज्ञान नही होता उसका ध्यान किसी प्रकार नही हो सकता।

ध्यान का फल ज्ञान से ससार के बधन टूट जाते हैं और ध्यान से आनन्द की अनुभूति होती है। बधन टूटते ही ससार की वासनाओ का त्याग हो जाता है। इससे ज्ञान होने पर ध्यान स्वय हो जाता है।

कर्म क्यो होता है? जब तक हृदय में किसी प्रकार की विलासिता जीवित है तब तक ही शुभ तथा अशुभ कर्म मे रुचि होती है।

विलासिता का अन्त होने पर त्याग के भाव उत्पन्न होते है, फिर कर्म में रुचि बिलकुल नही होती और त्याग आ जाने पर हृदय मे प्रेम उत्पन्न हो जाता है, क्योकि किसी का त्याग ही किसी का प्रेम हो जाता है ।

× × × ×

त्याग का फल त्याग और कर्म मे यही भेद है कि त्याग ससार के चढाव (मूल) की ओर और कर्म ससार के वहाव की ओर ले जाता है। जिस प्रकार नदी के चढाव की ओर चलने वाला नदी का अन्त करके नदी के कारण को जान लेता है उसी प्रकार त्याग करने वाला ससार के कारण को जान लेता है।

कर्म का फल जिस प्रकार नदी के वहाव की ओर जाने वाला महासागर मे डूबकर वार-वार उसी पानी मे चक्कर लगाता है, अर्थात् नदी के कारण को नही जान पाता, उसी प्रकार कर्म करने वाला घोर ससार मे चक्कर लगाता है, परन्तु ससार के कारण को नही जान पाता।

—※—

<u>५ जनवरी १९:०</u>

आदर और अनादर तथा सुख-दुख क्यों होता है ? कर्ता ने अपने को जिस भावना से बाँध लिया है उस भावना के अनुसार क्रिया करने पर कर्ता उस समुदाय में आदर पाता है और भावना के विपरीत क्रिया करने पर अनादर पाता है। आदर से सुख और अनादर से दुख अपने आप होता है ।

गुरु और ग्रन्थ की आवश्यकता क्यों होती है ?

अपने कर्त्तव्य का यथार्थ ज्ञान करने के लिये गुरु और ग्रन्थ की आवश्यकता होती है।

क्या गुरु और ग्रन्थ के बिना कर्त्तव्य का ज्ञान नही हो सकता ?

गुरु और ग्रन्थ के बिना भी कर्त्तव्य का ज्ञान हो सकता है,यदि कर्त्ता को कर्त्तव्य के ज्ञान के लिये सच्ची व्याकुलता उत्पन्न हो जाय। जिसको व्याकुलता नही उत्पन्न होती उसको बाहरी सहायता लेनी आवश्यक है।

व्याकुलता उत्पन्न होने पर कर्त्तव्य का ज्ञान कैसे होता है ?

व्याकुलता अग्नि के समान है, अतः वह सब प्रकार के विकारो को जला देती है और हृदय आदि को शुद्ध कर देती है।

हृदय के शुद्ध होने पर कर्त्तव्य का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। जिस प्रकार साफ की हुई मिट्टी ही दूरबीन का काँच है जिससे बहुत दूर का दिखाई दे जाता है (बिना साफ की हुई मिट्टी मे नही) उसी प्रकार अन्तकरण आदि के शुद्ध होने से कर्त्तव्य का ज्ञान दिखाई दे जाता है।

ऐसे महापुरुष (विचारशील पुरुष) को गुरु और ग्रन्थ की आवश्यकता नही होती।

कर्त्तव्य-पालन करने से क्या लाभ होता है ?

कर्त्तव्य-पालन करने पर कर्ता अभय हो जाता है अर्थात् बधन से छूट जाता है और किसी प्रकार का दुःख शेप नही रहता, गरीबी सदा के लिये मिट जाती है। 'करने' से छूट जाता है, सीमित भाव का अभाव हो जाता है।

वैराग्य क्या है ? संसार से सच्ची निराशा आ जाने पर जीवन मे ही मृत्यु का अनुभव हो जाता है, यही वास्तव मे वैराग्य है ।

अभ्यास क्या है ? अपने को सब ओर (संसार) से हटा लेना ही अभ्यास है ।

अभ्यास से क्या लाभ होता है ? जो अपने को सब ओर से हटा लेता है, वह अपने में ही सब कुछ (स्थायी आनन्द) पा लेता है ।

संसार का स्वरूप क्या है ? (१) इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का सद्भाव होने पर ससार सत् मालूम होता है ।

(२) बुद्धि-जन्य ज्ञान का सद्भाव होने पर संसार असत् मालूम होता है ।

(३) अनुभव-जन्य ज्ञान से ससार का अभाव हो जाता है । अतः सत्, असत् और अभाव-ये ससार के तीन स्वरूप मालूम होते है ।

इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का सद्भाव क्यों होता है ? विषयो का राग होने पर इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का सद्भाव होता है ।

बुद्धि जन्य ज्ञान का सद्भाव क्यो होता है ? विषयो का राग मिटने पर अर्थात् विचारपूर्वक वैराग्य होने से बुद्धि-जन्य ज्ञान का सद्भाव होता है ।

[वैराग्य उसी समय तक जीवित है, जब तक किसी न किसी प्रकार का राग है ।]

राग समूल मिटने पर वैराग्य अपने आप मिट जाता हैं। राग और वैराग्य के मिटते ही अनुभव-जन्य ज्ञान का सद्भाव हो जाता है।

अनुभव-जन्य ज्ञान, ज्ञान का स्वरूप है और बुद्धि-जन्य ज्ञान व इन्द्रिय-जन्य ज्ञान, ज्ञान का गुण है अर्थात् इन दोनो का ज्ञान स्वरूप नही है, इसीलिये घटता बढता है।

राग मिटने पर वैराग्य कैसे मिट जाता है। वैराग्य अग्नि के समान है जो रागरूपी लकड़ी को जलाता है। जिस प्रकार लकड़ी का अभाव होते ही अग्नि अपने आप शान्त हो जाती है, उसी प्रकार राग का अभाव होते ही वैराग्य, और अविचार का अभाव होते ही विचार, तथा अज्ञान का अभाव होते ही ज्ञान, और भोग का अभाव होते ही योग, स्वतः मिट जाता है। अर्थात् सभी गुण दोष के आधार पर जीवित हैं, अत. दोषो का अभाव होने पर गुण अपने आप मिट जाते हैं।

वास्तव में तो जिस प्रकार प्रकाश की कमी ही अँधेरा है, उसी प्रकार गुणों की कमी ही दोष है।

राग क्यों होता है ? सुख से राग का जन्म होता है, क्योकि यदि विषयो मे सुख न मालूम पड़े तो राग नही हो सकता। विषयो मे सुख-भाव अविचार से होता है, अविचार ज्ञान की कमी से होता हैं और ज्ञान की कमी अपने को शरीर समझने पर होती है। इन सब कारणो से ही राग का जन्म होता है।

दुःख क्यों होता है ? सुखरूप बीज से ही दुःखरूप वृक्ष हरा-भरा होता है, क्योकि ऐसा कोई दुःख नही है कि जिसका जन्म सुख मे न हुआ हो ।

दुःख और सुख का परिणाम ? जो सुख किसी का दुःख बन कर मिलता है, वह मिटकर कभी न कभी बहुत बडा दुःख हो जाता है, क्योकि उसका जन्म दुःख से हुआ था । और जो दु ख किसी का सुख बन कर मिला है वह मिटकर कभी न कभी आनन्द मे बदल जायेगा, क्योकि प्राणी सुख मे बँधता है और दुःख से छूट जाता है । अर्थात् सुख से दुख और दु ख से आनन्द मिलता है ।

त्याग का स्वरूप क्या है ? संसार की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता पर विश्वास का अत्यन्त अभाव ही सच्चा त्याग है क्योकि अनुकूलता से राग और प्रतिकूलता से द्वेष होता है । राग-द्वेष का अभाव हो जाना ही त्याग है ।

जिस प्रकार लडकी पिता के घर कन्या और ससुराल मे वहू तथा पुत्रवती होने पर माता कहलाती है, उसी प्रकार त्याग ही प्रेम और प्रेम ही ज्ञान कहलाता है ।

त्याग होने पर आस्तिकता आ जाने से त्याग प्रेम मे, और आस्तिकता का यथार्थ अनुभव होने पर प्रेम ज्ञान में बदल जाता है ।

—*—

६ जनवरी १९८०

आस्तिकता क्या है ?

सभी प्रकार के कर्मों का त्याग होने पर जो शेष रहता है उसका अनुभव ही आस्तिकता है। जिस प्रकार कमरो के मिटा देने से मकान की सत्ता कुछ नही रहती, उसी प्रकार सब प्रकार के कर्मों का अन्त होने पर कर्ता कुछ नही रहता, कर्म और कर्त्ता के मिटते ही अचल नित्य सत्ता शेष रहती है। क्योकि कर्म से किसी प्रकार स्थायी प्रसन्नता नही मिल सकती, इसलिये जब तक कर्म से प्रसन्नता मालूम होती हो तब तक समझना चाहिये कि आस्तिकता नही उन्पन्न हुई।

आस्तिकता की आवश्यकता क्यों हैं ?

जो अभिलाषा किसी प्रकार मिटाई नही जा सकती उसका पूरा होना अनिवार्य है। स्थायी प्रसन्नता सभी प्राणी चाहते हैं और वह केवल कर्म से किसी प्रकार पूरी नहीं हो सकती। इसलिये आस्तिकता की ओर जाने के लिए स्थायी प्रसन्नता का अभिलाषी मजबूर हो जाता है।

आस्तिक नास्तिक कौन है ?

(१) जो हर काल में है उसको जो जानता है वह आस्तिक है।

(२) जो हर काल मे नही है उसको जो मानता है वह नास्तिक है।

कर्म से स्थायी प्रसन्नता क्यों नहीं मिलती ?

कर्मरूप बीज से शरीररूप वृक्ष उत्पन्न होता है और संसाररूप फल लगता है, जिसका स्वाद सुख और दु.ख है। इसलिये कर्म से प्रसन्नता नही मिल सकती। कर्म शरीर तथा

संसार इन तीनो का स्वरूप एक है, इनमें कोई भी स्वतन्त्र सत्ता नही है। जो स्वतन्त्र नही है उससे स्वतन्त्रता नही मिल सकती, और स्वतन्त्रता के बिना प्रसन्नता कहाँ ? अत· इन कार्मादि से प्रसन्नता नही मिल सकती ।

कर्म किस प्रकार करना चाहिये ? कर्म को विश्व-प्रेम के भाव से करना चाहिये, क्योकि ऐसा करने से भोगों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। भोगो का यथार्थ ज्ञान होने पर त्याग अपने आप उत्पन्न होता है और फिर कर्म मे रुचि नही होती।

प्रत्येक करना न करने के लिये होता है, इसीलिये करना तभी सार्थक है कि करना न रहे। अतः विपयासक्तो को अपने सभी कर्म असीम विश्व-प्रेम के भाव से करने चाहिये। विषयासक्त कर्म से ही उन्नति कर सकता है और किसी प्रकार नही।

फल कर्म का अन्त होने पर आस्तिकता अपने आप आ जाती है। आस्तिकता आने पर रागद्वेष त्याग-प्रेम मे बदल जाते हैं ।

चाह क्यों उत्पन्न होती है ? सभी प्रकार की चाह उस समय उत्पन्न होती है जब हम अपने मे शरीर-भाव धारण करते है, क्योकि शरीर-भाव धारण करने से सीमित अहभाव उत्पन्न हो जाता है। सीमित अहंभाव होने से हम किसी न किसी प्रकार की बधनयुक्त भावना अपने मे अनुभव करते हैं और उसी बधनयुक्त भावना के अनुसार करने का भाव उत्पन्न होता है।

[प्रत्येक क्रिया का जन्म चाह से होता है ।]

संसार क्यों प्रतीत होता है ? अपने में शरीर-भाव धारण करने पर आनन्दघन भगवान् संसार के स्वरूप मे प्रतीत होते है ।

[जिस प्रकार शरीर-भाव धारण करने पर मसार का अनुभव होता है उसी प्रकार आत्म-भाव धारण करने पर परमात्मा का अनुभव होता है ।]

[शरीर भाव मिटाने के लिए आत्म-भाव धारण करना परम आवश्यक है, क्योंकि किसी का होना ही किमी का न होना हो जाता है ।]

उन्नति का साधन क्या है ? वर्तमान जीवन से असन्तोष होने पर ही उन्नति का जन्म हो सकता है ।

जीवन की सार्थकता क्या है ? जीवन के दो ही स्वरूप सार्थक है । या तो हृदय मे दु ख रूप अग्नि जलती रहे अथवा आनन्द की गंगा लहराती रहे, क्योकि दु.खरूप अग्नि सभी प्रकार के विकारो को जला देती है । जिस प्रकार लकड़ी न रहने पर अग्नि अपने आप ही शान्त हा जाती है, उसी प्रकार विकार न रहने पर दुख अपने आप शान्त हो जाते हैं ।

—※—

सन्त-वाणी

(१) जो किसी को नहीं चाहता उसको सभी चाहते हैं ।

(२) जो कुछ नहीं करता वह सब कुछ करता है ।

(३) करने से भोग और कुछ न करने से योग अपने आप हो जाता है ।

(४) अहंकार चाह के आधार पर जीवित है।

(५) सभी प्रकार की चाह मिट जाने पर अहंकार मिट जाता है।

(६) अहंकार मिटते ही सत्य का अनुभव हो जाता है।

—※—

७ जनवरी १९ ०

सत्य को कौन पा सकता है ? जिसका कोई आधार नही है और जो किसी का आधार नही वह सत्य से अभिन्न हो जाता है अर्थात् वह अपने प्रीतम को अपने से भिन्न नही पाता ।

सबसे बड़ी भूल क्या है ? कमी होते हुए कमी का अनुभव न करना परम भूल है, क्योकि इस भूल से ही सभी भूलें उत्पन्न होती हैं ।

मनुष्यता क्या है ? कमी का अनुभव करना और उसे मिटाने का प्रयत्न करना ही मनुष्यता है । मनुष्य किसी शरीर का नाम नही है ।

[दुःख से कमी का अनुभव होता है और कमी का अनुभव होने पर दुःख होता है, इन दानो का स्वरूप एक है ।]

संसार पर शासन किस प्रकार किया जा सकता है ? यदि ससार पर शासन करना चाहते हो तो ससार को अपनी पूर्ति का साधन मत बनाओ, बल्कि यथाशक्ति ससार की पूर्ति के साधन बन जाओ ।

—※—

८ जनवरी १६४०

ब्रह्मचर्य आश्रम क्या है ? जीवन की वह अवस्था है जिसमे कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य को विचारपूर्वक यथार्थ जाना जाता है अर्थात् मस्तिष्क की उन्नति अथवा बुद्धि-जन्य ज्ञान की प्राप्ति की जाती है ।

[बुद्धि-जन्य ज्ञान के लिए शारीरिक उन्नति भी आवश्यक है ।]

गृहस्थ आश्रम क्या है ? जीवन की वह अवस्था है जिसमे विषयो का राग विचार-पूर्वक त्याग न कर सकने पर उस राग का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये नियम पूर्वक* अर्थ और काम को न्याय-पूर्वक सचय किया जाय और शेष आश्रमो की अर्थादि से सेवा की जाय ।

वानप्रस्थ आश्रम क्या है ? जीवन की वह अवस्था हैं जिसमे विषयो में अरुचि अर्थात् दु:ख मालूम होने पर मन और इन्द्रिय आदि का तपश्चर्य्यापूर्वक सयम और पारिवारिक जीवन का त्याग करके विश्व के साथ एकता स्थापित की जाय ।

[आस्तिकता तो सभी आश्रमो मे है ।]

संन्यास आश्रम क्या है ? अवस्था भेद मिटाकर सब प्रकार से अभय हो जाना अथात् अपने मे स्थायीभाव से सत्य का अनुभव कर लेना ही सन्यास आश्रम है ।

[जीवन की पूर्णता सिद्ध करने के लिए सन्यास परम आवश्यक है।]

जो काम जिसके लिए करना चाहिये उसी के लिये करना ।

आश्रमो का वाह्य स्वरूप भले ही मिट जाय, परन्तु आन्तरिक स्वरूप उन्नति के लिये परम आवश्यक है, अर्थात् अन्त:करण की रुचि की पूर्ति के लिये चारो ही आश्रम अधिकारी के लिये आवश्यक हैं।

जिसको कर्त्तव्य का ज्ञान नही हुआ वह बुढ्डा ही क्यो न हो उसको ब्रह्मचारी होना ही पड़ेगा। जिसको भोग-वासना है उसे गृहस्थ होना ही पड़ेगा, चाहे कोई क्यो न हो। जिसको तप करना है उसे वानप्रस्थ होना ही पड़ेगा, चाहे राजा ही क्यो न हो। जो अभय होना चाहता है उसे त्याग करना ही पडेगा चाहे कोई क्यो न हो।

राग क्या है ?	दोष मालूम होते हुए भी त्याग न करना राग है।
द्वेष क्या है ?	गुण मालूम होते हुए भी ग्रहण न करना द्वेष है।

[राग त्याग नही होने देता और द्वेष प्रेम नही होने देता क्योकि त्याग और प्रेम से राग-द्वेष मिट जाते हैं।]

अच्छाई बुराई कैसे होती है ?	ऐसी कोई बुराई नही जिसका जन्म राग और द्वेष से न हो, अर्थात् सभी बुराइयाँ राग और द्वेष से होती हैं।

ऐसी कोई अच्छाई नही जिसका जन्म त्याग और प्रेम से न हो, अर्थात् सभी अच्छाई त्याग और प्रेम से होती हैं।

—※—

सत्य की आवाज

(१) जिस प्रकार बिना नीव के मकान नही बन सकता उसी प्रकार बिना सत्य के अनुभव के कोई सेवा नही कर सकता, क्योकि सेवा वही कर सकता है जिसको अपने लिये कुछ न करना हो ।

(२) यदि स्थायी प्रसन्नता चाहते हो तो सत्य का अनुभव करो ।

(३) यदि सत्य का अनुभव करना चाहते हो तो असत्य का त्याग करो ।

(४) त्याग करने योग्य वही वस्तुये है जो त्याग करने वाले का हर समय त्याग कर रही हैं । यदि उनका त्याग अपनी ओर से कर दिया जाय तो फिर उनकी याद नही आयेगी । यदि उन्होने अपनी ओर से त्याग कर दिया तो उनकी याद आयेगी, जो फिर सत्य की याद नही करने देगी । इसलिए त्याग कर देने वाली वस्तुओ का त्याग कर देना ही परमावश्यक है । शरीरादि प्रत्येक वस्तुये जलप्रवाह के समान लगातार अलग हो रही है, इसलिए उन सबसे अपने को ऊपर उठा लेना ही वास्तव मे असत्य का त्याग है ।

[असत्य का त्य,ग ही सत्य का प्रेम हो जाता है ।]

(५) जिस काल में त्याग करने वाली सभी वस्तुओ का त्याग हो जाता है, बस उसी काल मे सत्य का अनुभव अपने आप हो जाता है ।

(६) सत्य के साथ वही नाता रक्खो जो अपने साथ रखते हो। ससार के साथ वही नाता रक्खो जो शरीर के साथ रखते हो।

(७) शरीर का यथार्थ ज्ञान होने पर ससार का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और अपना यथार्थ ज्ञान होने पर सत्य का ज्ञान हो जाता है ।

× × × ×

न्याय क्या है ? ऐसा कोई दु.ख नही जिसका जन्म शरीर के सग से न हुआ हो, परन्तु फिर भी शरीर के प्रति हित के भाव रहते हैं, अर्थात् उसकी यथाशक्ति रक्षा करते रहते है, इसलिये दु.ख देने वालो के साथ भी हित का भाव रखना ही सच्चा न्याय है ।

प्रेम क्या है ? कोई भी अपना त्याग नही करता, अत. सत्य का किसी प्रकार त्याग न हो, यही वास्तव में प्रेम है ।

[असत्य ससार के साथ न्याय, और सत्य से प्रेम करना चाहिये ।]

[न्याय राजा है और प्रेम साधु है । राजा ससार पर शासन करता है और साधु राजा पर ।]

भगवद्भक्त कौन हो सकता है ? जो पतित अर्थात् दोषयुक्त प्राणियो को आदर के भाव से नही देख सकता वह भगवद्भक्त नही हो सकता, क्योंकि जो प्राणी उस मालिक की दी हुई धूप वायु आदि का अधिकारी है क्या वह आपके तुच्छ प्रेम का अधिकारी नही है ? अर्थात् अवश्य है ।

—*—

९ जनवरी १९५०

भक्त कौन है ? जो किसी का भी भक्त नही है वही भक्त है, क्योकि जो किसी का नही होता वह सब का होता है और जो सबका होता है वह किसी का नही होता। अतः भक्त की दृष्टि मे सृष्टि नही रहती।

ध्यान कौन कर सकता है ? आत्म-ध्यान वही कर सकता है जो जीवन मे ही जीवन का अन्त कर देता है, क्योकि सीमित अहभाव के आधार पर ही ससार जीवित है, जो ध्यान नही होने देता। अत. सीमित अहभाव को मिटा देना जीवन मे ही जीवन का अन्त कर देना है।

कर्म की उत्पत्ति क्यो होती है ? जब हम अपने को सीमित अहभाव अर्थात् किसी न किसी प्रकार की भावनाओ मे बाँध लेते है उसी भावना के अनुसार क्या करना चाहिये, यह भाव उत्पन्न होता है। ऐसी कोई भी क्रिया नही होती जिसका सम्बन्ध हमारे माने हुए अहभाव के अनुसार न हो, अर्थात् सब प्रकार के कर्मो का जन्म मानी हुई भावनाओ के अनुसार ही होता है।

स्थायी प्रसन्नता कौन पाता है ? स्थायी प्रसन्नता वही पाता है जो ससार की ओर से आने वाली सभी प्रसन्नताओ का अन्त कर देता है।

—※—

सत्य की आवाज

(१) विचारशल पुरुष की दृष्टि मे थोड़ा सा दु ख भी बहुत वडा दु ख होता है, परन्तु उसे प्रसन्नता तव तक नही होती जव तक वह प्रसन्नता न मिले कि जिससे वडी और कोई प्रसन्नता नही है, क्योकि जिस प्रकार एक वीज में अनन्त वृक्ष होते हैं उसी प्रकार दु.ख रूप वीज से अनन्त दु ख होता है, इसलिये उसे वह पसन्द नही करता, वल्कि दु ख का अन्त करने के लिये अखण्ड प्रयत्न करता है ।

(२) दु.ख, दु'खी की भूल से होता है, इसलिये अपने दु ख का कारण दूसरे को समझना परम भूल है ।

(३) दु ख कोई देता नही वल्कि दु:खी से स्वय दूसरो को दु ख होता है, जिस प्रकार अग्नि स्वय जलकर दूसरो को जलाती है ।

(४) दु ख -दुनियाँ की सहायता से किसी प्रकार नही मिट सकता, क्योकि ससार की कोई भी ऐसी अवस्था नही है जो दु ख को मिटा सके। इसलिये दुखी के लिये ससार में कोई स्थान नही है [ससार की कोई भी ऐसी अवस्था नही है जिसको पाकर किसी प्रकार की भी कमी शेष न रहे]।

(५) दुखी का दु.ख उसी समय तक जीवित है जब तक कि अभागा दुखी दु.ख को ससार की सहायता से मिटाना चाहता है, संसार से निराश होते ही दु.खहारी हरि दु.ख को स्वय हर लेते हैं । ऐसा जीवन में अनेक वार अनुभव हुआ है ।

सर्व इच्छाओ की पूर्ति किस प्रकार हो सकती है ? इच्छाओ के आधार पर अहभाव और अहभाव के आधार पर इच्छा जीवित रहती है और इसी नियम के अनुसार अनन्त काल से इच्छाओ के अनुसार अहभाव बनता रहता है। यदि कोई ऐसी प्रबल इच्छा बन जाय कि जो और सब इच्छाओ को मिटा दे तो फिर अत्यन्त व्याकुलता बढ जाने पर वह इच्छा भी मिट जाती है । सब इच्छाओ के मिटते ही अहभाव मिट जाता है। वह इच्छा जिस भाव को लेकर मिटी थी उसकी पूर्ति उसी काल मे हो जाती है जिसमे कि अहंभाव मिटा था, क्योकि जो अहभाव को प्रकाशित करता है वह सब प्रकार से पूर्ण है । अत. सब प्रकार की इच्छाओ की पूर्ति हो सकती है ।

---

१० जनवरी १९४०

कर्म कब तक होता है ? जब तक किसी प्रकार का भी व्यक्तित्व कर्ता को अपने सुख का साधन मालूम होता है तब तक वह कर्म अवश्य करता है ।

[मन इन्द्रिय आदि से जो कुछ जाना जाता है वह व्यक्तित्व है]

कर्म का त्याग कब होता है ? व्यक्तित्व की गुलामी मे अर्थात् बुद्धि आदि से जो कुछ मालूम होता है, उन विषयो मे जब रस नही आता है तब कर्त्ता कर्म का त्याग कर देता है ।

व्यक्तित्व किस प्रकार बनता है ? जो चीज बनती है वह सत् नही होती (अर्थात् हर काल मे नही रहती)। तथा असत् मे ही किसी न किसी प्रकार की इच्छा

उत्पन्न होती है। जिसकी इच्छा उत्पन्न होती है असत् उसी इच्छित स्वरूप को सत् की कृपा से धारण कर लेता है अर्थात् अपने इच्छित व्यक्तित्व को अपने से भिन्न नही पाता। जैसे एम् ए की इच्छा करने वाला विद्यार्थी एम् ए को अपने से भिन्न नही पाता अर्थात् यही अनुभव करता है कि मै एम् ए हो गया, अत. प्रत्येक व्यक्तित्व अपनी इच्छा के अनुसार अनेक व्यक्तित्व मे वदलता रहता है।

व्यक्तित्व किस प्रकार मिट सकता है ? इच्छा सदा अपूर्ण मे होती है, परन्तु यदि उस अपूर्ण मे पूर्ण की इच्छा हो जाय तो वह फिर सदा के लिए मिटकर पूर्ण हो जाता है और फिर किसी प्रकार की इच्छा उत्पन्न नही होती ओर न फिर व्यक्तित्व ही रहता है। अतः अपूर्ण को पूर्ण होने को इच्छा करना परमावश्यक है। जब तक पूर्ण होने की इच्छा नही होती तव तक ही अनेक इच्छाएँ जीवित रहती है। पूर्ण होने की इच्छा होने पर और सब इच्छाएँ अपने आप मिट जाती है, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश मे और सब प्रकाश मिट जाते है।

कर्म से अपूर्णता नहीं मिट सकती। कर्म से ससार प्राप्त होता है। वेचारा ससार स्वरूप से अपूर्ण है, इसलिये संसार की सहायता से अपूर्णता नही मिट सकती। अतः कर्म से अपूर्णता नही मिट सकती।

अपूर्णता किस प्रकार मिट सकती है ? अपूर्णता—अविचार तथा अज्ञान की कमी से उत्पन्न हुई है, अतः विचार तथा यथार्थ ज्ञान से ही मिट सकती है और किसी प्रकार नही।

विचार क्या है ? यह=ससार, वह=परमात्मा, मैं=शरीरादि का अभिमानी, इन तीनो का यथार्थ ज्ञान हो जाना ही विचार है। यद्यपि ये तीनो सूरज=वह, धूप=यह, किरण=मैं, के समान हैं, परन्तु किसी एक का यथार्थ ज्ञान होने पर तीनो का ज्ञान हो जाता है ।

अखण्ड समाधि किस प्रकार हो सकती है ? विचारपूर्वक यथार्थ ज्ञान से 'यह' 'वह' 'मै' इन तीनो के एक हो जाने पर अखण्ड समाधि अपने आप हो जाती है ।

—※—

सत्य की आवाज

१—यदि किसी प्रकार की अभिलाषा बाकी है तो समझना चाहिये कि अभी अनन्त अभिलाषाएँ बाकी हैं, क्योकि त्याग कुल का होता है, जुज का नही ।

२—इच्छा की उत्पत्ति मे दु.ख और पूर्ति मे सुख तथा इच्छाओं की निवृत्ति मे आनन्द का अनुभव होता है ।

३—अविचार से इच्छाओ की उत्पत्ति होती है, कर्म से इच्छाओ की पूर्ति होती है और ज्ञान से इच्छाओ की निवृत्ति होती है।

× × × ×

सुख और आनन्द मे क्या भेद है ? सुख से दु.ख दब जाता है और आनन्द से मिट जाता है। दबा हुआ दु ख फिर उत्पन्न होता है किन्तु मिट जाने पर फिर उत्पन्न नही होता ।

—※—

११ जनवरी १६४०

विचार उत्पन्न करने का क्या साधन है ? बिना जरूरी कामो का त्याग करने पर और जरूरी कामो को पूरा करने पर विचार उत्पन्न हो जाता है, क्योकि जो सुख काम के आधार से उत्पन्न होता है वह स्थिर नही रहता, अन्त मे दु ख ही शेष रहता है । और दु ख से विचार का जन्म हो जाता है ।

जरूरी काम क्या है ? जिस कार्य के पूरा करने के साधन प्राप्त हो और जिसके विना कर्त्ता किसी प्रकार न रह सके, वही आवश्यक कार्य है ।

— — —

सत्य की आवाज

(१) यदि राग व द्वेष न किया होता तो त्याग व प्रेम न करना पडता ।

(२) यदि विषयो का चिन्तन—ध्यान न किया होता तो भगवच्चितन—ध्यान न करना पडता ।

(३) यदि भोग न किया होता तो योग न करना पड़ता ।

(४) यदि ससार से स्वार्थ-सिद्धि न की होती तो ससार की सेवा न करनी पडती ।

(५) यदि अविचार न किया होता तो विचार न करना पड़ता ।

(६) यदि अपने में शरीर-भाव न धारण किया होता तो आत्म-भाव धारण न करना पड़ता ।

(७) यदि किसी का अनहित न किया होता तो तप न करना पडता ।

× × × ×

जिस प्रकार आँख सब कुछ देख सकती है, लेकिन आंख को कोई नही देख सकता, उसी प्रकार जो सबको जानता है वही स्वयं-प्रकाश, अखण्ड, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है । उसको बुद्धि आदि कोई नही जान सकता ।

× × × ×

जड़ क्या है ?	जड़ वह है जो अपने आप को प्रकाशित न कर सके, अर्थात् जो किसी और की सत्ता से प्रकाशित हो ।
चेतन क्या है ?	चेतन वह है जो अपने को स्वय प्रकाशित करे और जिससे जड़ प्रकाशित हो ।
असत् क्या है ?	असत् वह है जो बदलता रहे अर्थात् जो हर काल में एकसा न हो ।
सत् क्या है ?	सत् वह है जो सर्वकाल मे एक सा रहे और असत् को प्रकाशित करे ।
आनन्द क्या है ?	आनन्द वह है जिसका किसी प्रकार त्याग न किया जाय, अर्थात् जो अत्यन्त प्रिय हो।
दुःख क्या है ?	जो किसी प्रकार प्रिय न हो, अर्थात् जिसका त्याग कर दिया जाय ।
शरीर जड, असत् तथा दुःख रूप है ?	शरीरादि जो कुछ जानने मे आता है वह अपने को-अपने आप प्रकाशित नही कर सकता, इसलिये जड़ हैं ।

शरीरादि सभी वस्तुएं लगातार बदलती रहती हैं, अतएव असत् हैं और वही दुःखरूप हैं ।

क्रिया किस में होती है ? जो अपूर्ण हो, अर्थात् पूर्ण में क्रिया नही होती ।

अपूर्ण कौन है ? अपूर्ण वही है जो असत्, जड़ तथा दुःख रूप है ।

भक्ति क्या है ? अपने मे सद्भाव-पूर्वक अखड सच्चिदानन्दघन की स्थापना कर अपना सब कुछ उनके सामने छोडकर उनकी रजा में राजी रहने का अभ्यास करना ही अनन्य भक्ति है ।

सत् की अभिलाषा उत्पन्न करने का साधन क्या है ? प्रत्येक सत् के अभिलाषी को अपनी सभी अभिलाषाओ को विचारपूर्वक भली प्रकार देखना चाहिये कि वास्तविक अभिलाषा क्या है ? यदि उसने अपनी अभिलाषाओ का यथार्थ अनुभव कर लिया तो फिर सत् की अभिलाषा उत्पन्न हो जायगी । वास्तविक अभिलापा वही है जो किसी प्रकार न मिटाई जा सके । जो अभिलाषाएं किसी भी प्रकार मिटायी जा सकती है उनके मिटाने से ही सत् की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है, अथवा सत् की अभिलाषा होने पर और सब अभिलाषाएं मिट जाती है ।

सत् का मार्ग क्या है ? सत् की अभिलाषा ही एक मात्र सत् का मार्ग है । जिस प्रकार बडी मछली सभी छोटी मछलियो को खाकर अन्त मे अपने आप मर जाती है, उसी प्रकार सत् की अभिलाषा सभी अभि-

शाखाओ को मिटा कर अन्त मे अपने आप मिट जाती है, बस उसी काल मे सत् का अनुभव हो जाता है ।

[जिस प्रकार कमरो का अभाव होने पर मकान का अपने आप अन्त हो जाता है उसी प्रकार सभी कर्मो का अन्त होने पर कर्त्ता का अपने आप अन्त हो जाता है और फिर स्वयप्रकाश, सच्चिदानन्दघन, शुद्ध, निर्विकार शेष रह जाता है ।]

—※—

१२ जनवरी १९४०

पूजा क्या है ? प्राणिमात्र को किसी न किसी प्रकार की चाह अवश्य होती है । चाह के अनुसार चिंतन अपने आप हो जाता है और चिंतन से ध्यान हो जाता है, अर्थात् अपने प्रिय इष्ट का स्मरण, चिंतन, ध्यान करना ही पूजा है, जो सभी करते है । साधारण मनुष्य पूजा को आस्तिकवाद ही मे लेते हैं । अन्तर सिर्फ यह है कि आस्तिक एक की पूजा करता है और नास्तिक अनेक की पूजा करता है । पूजा बिना किये प्राणी रह नहीं सकता । पूजा करना सबको आता है, सिर्फ यही बात विचार करने की है कि पूजा किसकी की जाय ।

पूजा की सार्थकता क्या है ? पुजारी (सीमित अहंभाव), पूज्य (जिसमे अत्यन्त प्रियता हो, अर्थात् जिसका किसी प्रकार त्याग न किया जा सके) और पूजन की सामग्री (मन इन्द्रिय आदि संसार की सभी वस्तुएं) इन तीनो का एक हो जाना ही पूजा की सार्थकता है । पूजा पूरी होने पर कुछ भी करना शेष नही रहता, क्योकि पुजारी अर्थात् कर्तास्वयं मिट जाता है, अतः कर्ता के विना क्रिया हो नही

सकती। यह पूजा वही कर सकता है कि जो सच्चा आस्तिक हो।

नास्तिक की पूजा क्या है ? जिसकी अस्ति नही है उसमे जिसकी अत्यन्त प्रियता है वही नास्तिक है । नास्तिक अपने विषय-जन्य स्वभाव के अनुसार ससार के भोगो की अभिलाषा करता है। जब वह अपनी शक्ति से उन भोगो को नही पाता तब व्याकुल हो उनका चिन्तन करता है। प्रबल व्याकुलता के कारण जब वह चिन्तन अचिन्तता में बदल जाता है तो साधक उसी काल मे अनन्त सत्य से अपनी रुचि के अनुसार भोगो के यथाशक्ति प्राप्त करने का ज्ञान प्राप्त कर लेता है । उसी ज्ञान के अनुसार कर्म करने पर वह इच्छित भोग प्राप्त करता है । इसी प्रकार अनेक बार पूजा करता रहता है ।

दु.ख का कारण क्या है ? ससार की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता पर विश्वास करना ही दु ख का मूल है, क्योकि यदि अनुकूलता का सुख न प्रतीत हो तो प्रतिकूलता का दु ख नही हो सकता ।

सुखरूप बीज से ही दुःखरूप वृक्ष हरा-भरा होता है, जो अविचार-रूप भूमि मे अपने आप उपजता है । दु ख दुखी की भूल से होता है । अत. दुखी को अपने दु ख का कारण किसी और को नही समझना चाहिये । बेचारा जड ससार दुःख दे नही सकता और आनन्दघन भगवान् के यहाँ दु ख है नही, इसलिये दु.ख दुखी की भूल से होता है ।

दुःख किस प्रकार मिट सकता है ? दुखी का दु ख उसी समय तक जीवित है जब तक कि वह उसे ससार की सहायता से मिटाना चाहता है, क्योकि ससार

की कोई भी अवस्था ऐसी नही है कि जो निर्दोष तथा सब प्रकार से पूर्ण हो। अत. दुःख ससार की सहायता से नही मिट सकता। जिस काल में दुखी ससार की सभी सहायताओ का त्याग कर देता है बस उसी काल मे दुःखहारी हरि उसका दु ख हर लेते हैं। ऐसा भली प्रकार अनुभव हो चुका है।

[ससार की अनुकूलता और प्रतिकूलता पर विश्वास करने से कर्त्ता आशा और भय के जाल मे फँस जाता है।]

संसार की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता क्यो होती है? ससार सवल के अनुकूल तथा निर्बल के प्रतिकूल अपने आप हो जाता है। यद्यपि ससार की अनुकूलता से किसी प्रकार आनन्द नही मिलता, परन्तु फिर भी प्राणी को अनुकूलता प्रिय होती है।

निर्बलता क्या है? सवसे प्रबल निर्बलता यही है कि वल को ससार की सहायता पर निर्भर किया हुआ है। अर्थात् शरीरादि ससार की सभी वस्तुओ पर भरोसा करना ही निर्बलता है। यदि ससार की सहायता का त्याग कर दिया जाय तो साधक अत्यन्त सवल हो जाता है और फिर ससार उसके अनुकूल होने के लिये मजबूर हो जाता है। अत ससार की सहायता को त्यागकर सवल हो जाओ।

सन्त-वाणी

शुभ कर्म सद्भाव पूर्वक की हुई भावनाओ के अनुसार यथाशक्ति क्रिया करने पर कर्त्ता का कालान्तर मे वही स्वरूप बन जाता है। इसलिये हृदय मे सदैव पवित्र भावनाएं करनी चाहिये। यही वास्तव में शुभ कर्म है।

ज्ञान का स्वरूप क्या है ? सब कुछ ज्ञान से ही उत्पन्न होकर ज्ञान में ही स्थित तथा ज्ञान मे ही विलीन हो जाता है। सब कुछ विलीन होते हुए भी ज्ञान स्वरूप से अखड रहता है। ज्ञान का स्वरूप यदि क्रियारूप मे देखा जाय तो उसका नाम त्याग है। [क्योंकि ज्ञान के लिये त्याग ही करना होता है।]

ज्ञान का स्वरूप यदि भावरूप मे देखा जाय तो उसका नाम प्रेम है। [क्योंकि बिना ज्ञान के प्रेम नही होता।]

ज्ञान का योग क्या है ? त्याग को प्रेम मे और प्रेम को ज्ञान मे विलीन अर्थात् अभिन्न कर देना ही ज्ञान-योग है।

ज्ञान योग का फल क्या है। ज्ञान-योग के सिवा और किसी प्रकार अवस्था-रहित अखड एकरस स्थायी प्रसन्नता नही मिल सकती है।

ज्ञान-योग कौन कर सकता है ? अभिलाषा होने पर मनुष्य-मात्र स्वतन्त्रता-पूर्वक ज्ञान-योग कर सकता है, क्योंकि ज्ञान-योग के लिये किसी प्रकार के सगठन की आवश्यकता नही है, बल्कि अपने बनाये हुए सभी सगठन मिटाने पड़ते है। अपनी बनाई हुई वस्तु को मिटाने के लिये

सभी स्वतन्त्र है। सभी संगठन मिट जाने पर बेचारा संसार निर्जीव तथा नीरस हो जाता है। संसार के सभी रस मिट जाने पर परम पवित्र विचित्र रस का अनुभव होता है, जो कहने में नही आता। उस अनोखे रस का अनुभव होते ही किसी प्रकार की कमी शेष नही रहती, अर्थात् सभी अभिलाषाओ का अन्त हो जाता है। यही ज्ञान-योग का वास्तविक फल है, जिसे मनुष्य-मात्र प्राप्त कर सकता है।

उपासना की आवश्यकता क्यों होती है ? शुभ कर्मों से स्वार्थ के भावो का अभाव हो जाता है, अर्थात् हृदय विशाल हो जाता है। विश्व का दुःख उसका दुःख और विश्व का सुख उसका सुख हो जाता है। अर्थात् कर्मों द्वारा व्यक्ति शान्ति नही पाता, इसलिये उपासना की आवश्यकता होती है।

उपासना के क्या लाभ हैं ? अपने को सब प्रकार से पूर्ण देखने की रुचि मनुष्यमात्र को होती है, परन्तु विषय-जन्य स्वभाव की आसक्ति के कारण उसका अनुभव नही हो पाता। इसलिये उस विषय-जन्य स्वभाव को मिटाने और अपनी वास्तविक रुचि को स्थायी करने के लिये उपासना करनी चाहिये। उपासना से ही ऐसा हो सकता है।

उपासना के कितने मार्ग हैं ? १. विचारपूर्वक उस पूर्ण स्वभाव को अपने मे स्थापित करना, अर्थात् स्थायी भाव से अपने में अनुभव करना, यह ज्ञान का मार्ग है।

२. प्रकृति के अभाव मे उस पूर्ण स्वभाव को स्थापित कर भावपूर्वक अनुभव करना, यह निराकार उपासना है।

३ अपनी रुचि के अनुसार किसी भी प्रतीक मे उसी पूर्ण भाव को स्थापित कर भावपूर्वक अनुभव करना साकार उपासना है ?

[साकार तथा निराकार दोनों प्रकार की उपासना श्रद्धा का मार्ग है ।]

× × × ×

(१) जब तक विषय-जन्य स्वभाव का अत्यन्त अभाव नही हो जाता, तब तक उपासना करना अनिवार्य है । अर्थात् उसके बिना किये किसी प्रकार रह नही सकता ।

(२) दोष के मिट जाने पर गुण अपने आप मिट जाते हैं । अर्थात् सभी गुण दोष के आधार पर जीवित रहते है ।

[विषय-जन्य स्वभाव गलने पर उपासना अपने आप मिट जाती है और केवल शुद्ध सत्य का अनुभव हो जाता है और फिर कुछ करना शेष नही रहता ।]

× × × ×

सत्य की आवाज

सत् के प्रेम को व्यक्ति का प्रेम
,, ज्ञान ,, ज्ञान
,, आनन्द ,, आनन्द
,, सौन्दर्य ,, सौन्दर्य
,, न्याय ,, न्याय
सत् की आवाज को व्यक्ति की आवाज़
समझना परम भूल है ।

१३ जनवरी १९४०

सब प्रकार से समर्थ कौन है ? यथार्थ ज्ञान, क्योकि पतित को पवित्र तथा अपूर्ण को पूर्ण, अनाथ को नाथ, जड को चेतन, दुख को आनन्द, असत् को सत् करने वाला एक मात्र यथार्थ ज्ञान ही है, क्योकि सभी विकार ज्ञान की कमी से ही जीवित रहते है।

[ज्ञान, वल, अर्थ और क्रिया इन चारो से जीवन की पूर्णता मिद्ध होती है।]

[ज्ञान—वल, अर्थ और क्रिया तीनो पर शासन करता है।]

[वल—अर्थ और क्रिया इन दोनो पर शासन करता है।]

[अर्थ—केवल क्रिया पर शासन करता है।]

(१) विशेष ज्ञान होने के कारण ब्राह्मग जगद्गुरु कहलाता है।

(२) विशेप बल की विशेषता के कारण क्षत्रिय ससार का राजा कहलाता है।

(३) विशेप अर्थ की विशेषता के कारण वैश्य ससार का निधि कहलाता है।

(४) विशेष क्रिया की विशेषता के कारण शूद्र ससार का दास कहलाता है।

[ज्ञान का भी अभिमान त्याग करने पर सच्चा सन्यासी ब्राह्मण का भी गुरु कहलाता है।]

[ब्राह्मण ज्ञान का आदर करता है, क्षत्रिय बल का, वैश्य अर्थ का और शूद्र क्रिया का।]

प्रार्थना क्या है ? *अभिलापा का प्रवल हो जाना ही सच्ची प्रार्थना है।

उपासना क्या है ? प्रवल अभिलाषा को, अर्थात् की हुई प्रार्थना को समर्पण कर देना ही उपासना है।

स्तुति क्या है ? उपासना पूर्ण होने पर जो अनुभव मे आये उसका बुद्धि आदि से गान करना ही स्तुति है।

---

१४ जनवरी १९४०

भोग की इच्छा क्यो होती है ? विपयो के राग के कारण स्थायी प्रसन्नता के अभिलाषी को भोग की प्रवृत्ति होती है, यद्यपि सफलता नही होती।

योग की इच्छा क्यों होती है ? विषयों का राग मिटने पर स्थायी प्रसन्नता के अभिलाषी को योग की इच्छा होती है, यद्यपि बिना ज्ञान के सफलता नही पाता।

भोग से शक्तियो का विनाश और योग से शक्तियो का विकास होता है।

[योग करने के लिये स्वतन्त्रता है और भोग करने के लिये परतन्त्रता है, क्योकि भोग के लिये ससार की सहायता तथा कर्म की आवश्यकता होती है और योग के लिये ससार के त्याग की आवश्यकता होती है। त्याग

---

*प्रवल अभिलापा एक हो सकती है, अनेक नही। एक ही अभिलापा की पूर्ति के लिये अनेक इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। एक-एक इच्छा की पूर्ति के लिये अनेक संकल्प उठते है। प्रत्येक सकल्प की पूर्ति के लिये अनेक क्रियाएँ होती है। अत एक ही अभिलापा का सारा विकास होता है।

कर्ता स्वय कर सकता है। अत योग स्वतन्त्र है और भोग परतन्त्र ।]

बन्धन क्या है ? मानी हुई सत्ता का सद्भावपूर्वक शासन स्वीकार करना ही बन्धन है।

स्वतन्त्रता क्या है ? मानी हुई सत्ता का सद्भाव मिटाकर उसके शासन को स्वीकार न करना तथा अपने पर अपना ही शासन होना वास्तविक स्वतन्त्रता है।

संत-उपदेश

१ यदि दु.ख पर शासन करना चाहते हो तो सुख को मिटा दो ।

२. यदि अपमान पर शासन करना चाहते हो तो सम्मान को मिटा दो।

३. यदि रोग पर शासन करना चाहते हो तो भोग को मिटा दो ।

४. यदि वियोग पर शासन करना चाहते हो तो सयोग को मिटा दो।

५ यदि शोक पर शासन करना चाहते हो तो हर्ष को मिटा दो ।

६ हमारे स्वभाव के अनुसार ही ससार का हमारे ऊपर प्रभाव होता है, अर्थात् ससार शासन करता है, क्योंकि ऐसी कोई शक्ति नही है कि जिसको हम स्वय स्वीकार न करे और

वह हम पर अपना अधिकार कर सके, अर्थात् हमारी मर्जी के विना हम पर कोई भी शासन नही कर सकता।

परतन्त्रता अपनी बनाई हुई चीज है, इसलिये कर्ता उसे मिटा कर स्वतन्त्र हो सकता है। स्वतन्त्रता कभी दूसरे की सहायता से नही मिल सकती। सब प्रकार की स्वतन्त्रता कर्ता के पुरुपार्थ पर निर्भर है।

७ जिस प्रकार भूख लगने पर सब की एक दशा होती है उसी प्रकार सत्य की खोज करते समय सब की एक दशा होती है, अर्थात् उस समय अपनी वर्तमान परिस्थिति से सभी को अरुचि होती है। इसीलिये सभी सत्य की खोज करने वालो ने त्याग किया है।

८ जो विपयासक्त है वे अपने स्वभाव के अनुसार अलौकिक विषयो के स्वरूप मे सत्य की खोज करते है, अर्थात् स्वर्गादि अनेक लोको की प्राप्ति के लिये कर्म करते है।

९ जो विपयो मे विरक्त है, वे विषयातीत, सच्चिदानन्दघन, अखड, एकरस, निर्विकार सत्य की खोज करते हैं, अर्थात् मोक्ष चाहते हैं।

१० विषयासक्त स्वभाव—अर्थात् जो इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि मे जाना जाता है वह कभी नित्य नही रह सकता। इस को सभी सत्य की खोज करने वाले जानते है, किन्तु राग के कारण त्याग नही कर सकते।

११ विपयो का अभाव होने पर अवस्था-भेद नही रहता। यह सब प्रकार सत्य है। इसी अनन्त नित्य की खोज मे प्राणिमात्र छटपटा रहा है।

१२ विषय-युक्त सत्ता परतंत्र और विषयातीत सत्ता स्वतत्र है ।

———

15 जनवरी १९४०

प्रेम की अवस्थाएं १ यह (ससार) जो कुछ है वह उनका है, अर्थात् प्रेमपात्र का है—यह प्रेम की प्रथम अवस्था है ।

२ यह जो कुछ है वह उनका ही स्वरूप है—यह द्वितीय अवस्था है । इस अवस्था मे सृष्टि मिटकर प्रेमपात्र का स्वरूप प्रतीत होता है, अर्थात् ससार का भाव मिट जाता है ।

३ प्रेम की जो तीसरी अन्तिम अवस्था है वह किसी प्रकार कही नही जा सकती । सिर्फ यह सकेत किया जा सकता है कि प्रेमपात्र के सिवाय और कुछ कभी हुआ ही नही ।

[इन तीनो अवस्थाओ का एक हो जाना ही यथार्थ ज्ञान है]

भक्ति की निष्ठा भक्त की दृष्टि में सृष्टि नही रहती, अर्थात् प्रेमपात्र ही भासता है ।

ज्ञानी की निष्ठा क्या है ? ज्ञानी की दृष्टि मे सृष्टि तथा प्रेमपात्र भी नही रहता, अर्थात् एक ही परमतत्व भासता है ।

———

१६ जनवरी १६४०

गुरु का स्वरूप क्या है ? शरीर मे गुरु-बुद्धि और गुरु मे शरीर बुद्धि करना परम भूल है, क्योकि गुरु-तत्व अनन्त ज्ञान का भण्डार है । गुरु, हरिहर और सत्य मे कोई भेद नही है । इसलिये जो गुरु को प्राप्त कर लेता है वह सब कुछ पा लेता है ।

शिष्य कौन है ? ज्ञान का जिज्ञासु ही शिष्य है । शिष्य गुरु होने के लिये गुरु की शरण में जाता है । गुरु वही है जो शिष्य को गुरु बना सके, क्योकि गुरु के मिलते ही शिप्य गुरु हो जाता है ।

गुरु की आवश्यकता गुरु होने के लिये होती है, शिष्य होने के लिये नही, शिष्य तो उसी समय तक है जब तक कि गुरु नही मिला । ज्ञान की जिज्ञासा आवश्यकता होने पर अपने आप उत्पन्न होती है, अतः शिष्य तो स्वय ही बन जाता है ।

[सत् होने के लिये ही सत् की आवश्यकता है । इसलिये वही सत् है जो सत् के अभिलाषी को सत् बना दे ।]

सत्य की आवाज

१७ जनवरी १६४०

१ विश्वास—सुनने तथा मानने पर होता है। श्रद्धा—देखने तथा जानने पर होती है। अनेक की अश्रद्धा एक की श्रद्धा बनती है। श्रद्धा उस पर होती है जिसमे कर्ता को किसी प्रकार का दोष न दिखाई दे ।

२ ससार पर उसी समय तक श्रद्धा रहती है जब तक अपने शरीर पर श्रद्धा रहती है ।

३ जो अपने पर श्रद्धा करता है वह सत्, ब्रह्म तथा ईश्वर पर श्रद्धा करता है, जो शरीर पर श्रद्धा करता है, वह ससार [स्वार्गादि] पर श्रद्धा करता है ।

४ श्रद्धा के अनुसार ही कर्ता की प्रवृत्ति होती है ।

५ ज्ञान के अनुसार श्रद्धा होती है ।

६ ज्ञान विचार से उत्पन्न होता है। विचार दु.ख से उत्पन्न होता है ।

७ दु ख वही है जिसका किसी प्रकार सयोग न किया जा सके, अर्थात् जिसमे किसी प्रकार से रुचि न हो ।

८. आनन्द वही है जिसका किसी प्रकार वियोग न किया जा सके ।

९ किसी का न जानना किसी का जानना अवश्य हो जाता है, क्योकि जो जानने वाली सत्ता है वह किसी न किसी को जानती रहती है ।

१० जो सत्ता सबको जानती है उसका अनुभव किया जा सकता है, वह जानी नही जा सकती है । अनुभव अभेद होने पर हो सकता है और किसी प्रकार नही ।

जिस प्रकार सभी मिठाइयो मे मीठापन खाँड का है, उसी प्रकार सभी ज्ञानवाली चीजों (मन, बुद्धि, इन्द्रियो आदि) में ज्ञान उसी ज्ञानस्वरूप सत्ता का है जो सबको जानती है ।

११. योगियो का योग, प्रेमियो का प्रेम, विचारशीलो का विचार तथा उन्नति शीलो की उन्नति उसमे ही विलीन हो जाती

है, अर्थात् वही जीवन का परम लक्ष्य है क्योकि उसका किसी प्रकार त्याग नही किया जा सकता। जिसका किसी प्रकार त्याग नही किया जा सकता उसमे ही आनन्द है।

१२ आनन्द की अभिलाषा प्राणिमात्र को होती है, अत. वही जीवन का परम लक्ष्य है।

सत् असत् का ज्ञान

१३ असत् मे हट जाना ही असत् का ज्ञान है और सत् से मिल जाना ही सत् का ज्ञान है, क्योकि असत से विना हटे असत् का कथन नही कर सकते और सत् से विना मिले सत् का अनुभव नही कर सकते।

—※—
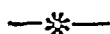
१८ जनवरी १९४०

सदाचार क्या है?

विलासिता की भावना से क्रिया का न होना ही सच्चा सदाचार है, क्योकि ऐसा कोई दुराचार नही कि जिसका हेतु राग न हो। राग और विलासिता वीज और वृक्ष के समान है और सुख-दु ख इसके फल है। यथा अविचाररूप भूमि मे रागरूपी वीज अपने-आप उत्पन्न होता है और फिर विलासितारूप वृक्ष हरा-भरा होकर सुख-दु.ख-रूपी फल लगता है, जो विपयो के चिन्तनरूपी जल से सदैव सुरक्षित रहता है।

अविचार को विचार से मिटाकर वैराग्यरूपी वीज को उत्पन्न कर त्यागरूपी वृक्ष से आनन्दरूपी फल उत्पन्न होता है।

उन्नति का साधन क्या है। शारीरिक उन्नति के लिये सदाचार परमावश्यक है, आत्मिक उन्नति के लिये त्याग परमावश्यक है।

सेवा और कर्म में क्या भेद है ? सेवा-स्वामी से मिलाती है, अर्थात् अपने लक्ष्य तक पहुँचाती है और कर्म–फल मे बाँध लेता है।

सेवा-भाव से की हुई अनेक क्रियाओ का एक ही अर्थ होता है। यथार्थ मेवा करने पर मन मे किसी प्रकार का राग नही रहता है। सेवा करने वाले की दृष्टि में मृष्टि नही रहती, बल्कि सब ओर अपना प्रेमपात्र ही नजर आता है, यही मानसिक उन्नति की पराकाष्ठा है।

मेवा का भाव गल जाना ही सच्चा त्याग है, त्याग से आत्मिक उन्नति होती है, अर्थात् फिर वह अपने से भिन्न और कुछ नही पाता।

सेवा सेवा आस्तिकता के बिना किसी प्रकार न ही हो सकती और कर्म नास्तिक-भाव होने पर भी हो सकता है।

कर्म और ससार दोनो का स्वरूप एक है, इसीलिये कर्म से ससार की प्राप्ति होती है।

आस्तिक-नास्तिक भाव ससार से परे और कुछ नही है, ऐसा भाव हो नास्तिकता का भाव है। ससार से परे अनन्त सत्य है, यही आस्तिकता का भाव है।

—*—

१९ जनवरी १९००

साधुत्व क्या है ? अपने को जिन कल्पनाओ (वर्णाश्रम आदि) में बाँध लिया हो उनके नियम के अनुसार पूर्ण शक्ति लगाकर कार्य करने पर सत्य की खोज करते रहना ही साधुत्व है, क्योकि जो अपने को पूरा नही लगाते हैं उनको ही उन कामो की याद आती है कि जिनको अनेक बार कर चुके है, इसलिये पूरा लगाना चाहिये।

काम का अन्त होने पर सत् की अभिलाषा अपने आप उत्पन्न होती है। सत् की अभिलाषा होने पर भूतकाल याद नही आता, वर्तमान मे कल नही पड़ती और भविष्य की आशा नही होती।

सत् किस प्रकार से मिल सकता है। सत् असत् की सहायता से नही मिल सकता और न किसी प्रकार की क्रियाओ से मिल सकता है, क्योकि क्रिया असत् में होती है। अत. असत् के त्याग से सत् मिल सकता है।

असत् का स्वरूप असत् वह है जिसमें इच्छाओ की उत्पत्ति हो अथवा जो परतन्त्र सत्ता हो।

इच्छाओ के आधार पर असत् और असत् के आधार पर इच्छाएं जीवित रहती है। यदि सर्व इच्छाओ का त्याग कर दिया जाय तो असत् मिट जाता है और यदि असत् को मिटा दिया जाय तो सब इच्छाएं मिट जाती है।

———

२० जनवरी १९४०

योग का साधन क्या है ? विषयो को इन्द्रियो मे विलीन करो और इन्द्रियों को मन मे, मन को वुद्धि मे, और वुद्धि को उसमे जो वुद्धि से परे है ।

विषयों की अभिलाषा मिटने पर विषय इन्द्रियो मे विलीन हो जाते है, सकल्प रहित होने पर इन्द्रिया मन मे विलीन हो जाती हैं, विषयो का राग मिटने पर मन नि.संकल्प हो जाता है, मन के नि:सकल्प होने पर इन्द्रिया मन में विलीन हो जाती हैं, सत् असत् का विचार होने पर मन वुद्धि, मे विलीन हो जाता है, और सभी अभिलाषाओ का अन्त होने पर वुद्धि, जो वुद्धि से परे है उसमें विलीन हो जाती है । यह प्रणव की उपासना है, मर्थात् लय-चिन्तन योग है ।

अखंड समाधि क्या है ? यह=ससार, मैं=शरीर का अभिमानी, वह=परमात्मा, इन तीनो का एक हो जाना ही अखड समाधि है ।

पाठ किसका करना चाहिये ? जो जीवन की घटनाओ का यथार्थ पाठ नही कर सकता, उसको पुस्तको के पाठ से कुछ लाभ नही हो सकता, क्योकि अच्छाई उत्पन्न होती है सीखी नही जाती । सीखी हुई अच्छाई कभी न कभी धोखा अवश्य देती है ।

यदि विचारपूर्वक देखे तो पाठको को यह भली भाँति अनुभव होगा कि जीवन की प्रत्येक घटना कुछ न कुछ अर्थ अवश्य रखती है ।

विचारशील साधक उस घटना से अनुभव हुए ज्ञान को अपना लेते हैं और घटनाओ को भूल जाते है ।

अविचारी साधक उस घटना से उत्पन्न हुए ज्ञान को भूल जाते है और घटना को याद रखते है ।

ऐसी कोई प्रवृत्ति नही होती कि जिससे सुख तथा दु ख दोनो की अनुभूति न हो ।

जिसकी दृष्टि दु ख होने पर सुख पर ही रहती है उसकी कर्म मे रुचि बनी रहती है और बेचारा बड़े-से-बडे दु खो (जन्म-मरणादि) को उठाता रहता है ।

जिसकी दृष्टि दु.ख पर रहती है वह त्याग करने के लिये समर्थ होता है और विचारपूर्वक दु.ख का अन्त कर देता है ।

सत्संग क्या है ? सत्संग कहने मे नही आता, किया जाता है । असत् का त्याग होने पर सत् का सग अपने आप होता है । अत सत् हो कर ही सत् का सग किया जा सकता है ।

असत् हो कर सत् की बाते करना साधारण मनुष्य सत्सग समझते हैं । वास्तव मे वह सत्सग नही है ।

<u>२५ जनवरी १९४०</u>

शरणागति का साधन क्या है ? शरणागत होने वाले महानुभाव को यह भली प्रकार जान लेना चाहिये कि—१. किसको शरणागत होना चाहिये । २ किसके शरणागत होना चाहिये और ३. किस लिये शरणागत होना चाहिये ?

१ शरणागत होने वाले का स्वरूप क्या है ? शरणागत होने की आवश्यकता उसको ही होती है जो किसी न किसी की शरणागत रहता है, अर्थात् जिसकी स्वतत्र नित्य सत्ता नही है। जो स्वतत्र नही है वह कुछ न कुछ करता है और जो कर्ता है, वह भोक्ता अवश्य है, अथात् शरणागत होने वाले का स्वरूप यही है जो (अ) स्वतत्र न हो, (ब) जिसमे कर्तापन हो, (स) जिसमे भोक्तापन हो।

२ शरणागत किसके होना चाहिये ? जो स्वतत्र हो, नित्य हो, अखड हो, अनन्त हो, सब प्रकार से पूर्ण हो, अनन्त-ज्ञान हो अर्थात् जिसमे किसी प्रकार की कमी न हो, उसकी शरण होना चाहिये। यदि किसी प्रकार का दोषमालूम हो तो उसकी शरण नही होना चाहिये।

३ शरणागत किस लिये होना चाहिये ? जिसकी शरणागत होना हो उसमे अभिन्न होने के लिये शरणागत होना चाहिये।

शरणागत हो जाने का स्वरूप क्या है ? शरणागत होने वाला (कर्ता तथा भोक्ता) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध आदि विषयो का त्याग कर परमतत्व सच्चिदानन्दघन की शरण होकर उससे अभिन्न हो जाता है, अर्थात् द्रष्टा, दर्शन, दृश्य-त्रिपुटी का अभाव हो जाता है। यही शरणागति का स्वरूप है। जिस प्रकार पानी का बहाव रोक देने पर जहाँ से पानी निकलता था वहाँ अपने आप चढ जाता है, उसी प्रकार विषयो का त्याग करते ही विषयो का भोक्ता अपने आप अपने निज-स्वरूप परमतत्व मे स्थायी भाव से विलीन हो जाता है।

संयम क्या है ? जो सुनने वाले की प्रसन्नता के लिये बोलता है।
जो मिलने वाले की ,, ,, मिलता है।
जो खिलाने वाले ,, ,, ,, खाता है।
जिसकी आँखे रूप की सार्थकता ,, देखती है।
जिसके कान शब्द ,, ,, ,, सुनते है।
जिसकी नाक गध ,, ,, ,, सूँघती है।

इसी न्याय के अनुसार जिसकी सभी क्रियाएँ होती हैं, उन क्रियाओ का कर्त्ता पर कुछ अर्थ नही होता। अर्थ रहित क्रियाओ से राग मिट जाता है। राग मिटते ही त्याग हो जाता है। त्याग होने पर धारणा, ध्यान तथा समाधि अपने आप हो जाती है और इन तीनो का एक हो जाना ही सच्चा सयम है।

[सयम पूरा हो जाने पर व्याकुलतापूर्वक सत् की अभिलापा उत्पन्न होती है, जो सत् का मार्ग है।]

—※—

२६ जनवरी १९४७

सन्त-सन्देश

मन, इन्द्रिय आदि सभी सम्बन्धियों से कह दीजिये कि कृपया अब आप अपनी प्रसन्नता के लिये शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध आदि विषयो से सम्बन्ध न करे। बल्कि जो क्रिया जीवन के वास्ते परमावश्यक हो वह सिर्फ भगवान् के नाते से तथा उस क्रिया की सार्थकता के वास्ते करे। ऐसा करने मे विषयो का राग मिट जायगा और संसार नीरस तथा निर्जीव हो जायगा। ससार के नीरस होते ही व्याकुलतापूर्वक आनन्दघन भगवान् की अभिलापा उत्पन्न होगी। व्याकुलता बढ जाने पर सफलता अपने आप हो जाती है।

जब तक कुछ भी करते हो तब तक यह नही कह सकते कि धर्म कुछ नही, क्योकि करना ही धर्म है ।

जब तक कुछ भी जानना चाहते हो तब तक यह नही कह सकते कि गुरु की आवश्यकता नही, क्योकि जानने की इच्छा ही शिष्य का स्वरूप है ।

जब तक कुछ भी चाहते हो तब तक यह नही कह सकते कि ईश्वर कुछ नही, क्योकि माँगना ही अपने से बडी सत्ता को स्वीकार कर लेना है ।

—※—
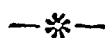
२८ जनवरी १९४०

मनका निग्रह किस प्रकार हो सकता है ? सार्थक काम के पूरा करने मे और निरर्थक काम का त्याग करने से मन का निग्रह अपने आप हो जाता है, क्योकि काम को मन मे जमा नही रखना चाहिये । अर्थात् काम न रहने से मन का निग्रह अपने आप हो जाता है ।

सार्थक काम क्या है ? जिसके बिना कर्त्ता किसी प्रकार न रह सके तथा जिस काम के करने के साधन प्राप्त हो और जिसके करने से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति हो, वही सार्थक काम है ।

निरर्थक काम क्या है ? जो काम वर्तमान मे न हो, अर्थात आगे पीछे का व्यर्थ चिन्तन करना तथा जिन कामो मे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक वह निरर्थक काम है ।

अच्छाई बुराई क्यो होती है ? बुराई का चिन्तन करने मे बुराई और भलाई का चिन्तन करने से भलाई अपने आप आ जाती है । इसलिये भूल कर भी किसी की बुराई का चिन्तन नही करना चाहिये, क्योकि उसकी बुराई कर्ता मे आती है और उसका भी अनहित होता है कि जिसकी बुराई की जाती है । तथा बुराई करने से भी बुराई का चिन्तन अधिक बुरा है और भलाई करने से भी भलाई का चिन्तन अधिक भला है ।

किसी को अच्छा कैसे बनाया जाय ? जिसको अच्छा बनाना चाहते हो उसमे अपने मन मे उन्ही अच्छे गुणो को स्थापित कर दोअर्थात् जैसा बनाना चाहते हो उन्ही भावनाओ को उसमे देखो । बार-बार ऐसा चिन्तन करो कि वह अच्छा है । इससे कालान्तर मे वह उसी प्रकार हो जायगा जैसा कि चिन्तन किया गया है ।

संसार के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये ? ससार हमारे प्रति जिस प्रकार की भावनाए करता है कर्ता को उसकी भावनाओ की पूर्ति के लिये यथाशक्ति क्रिया कर देनी चाहिये, अपना किसी प्रकार का भाव नही रखना चाहिये । ऐसा कर्ता करते हुए भी कर्म से छूट जाता है और भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाएँ करते हुए भी उसकी समता बनी रहती है, क्योकि वास्तव मे उसकी ओर से प्रतिक्रिया होती है, क्रिया नही । ऐसी प्रतिक्रिया वही कर सकता है जिसके हृदयसे शत्रुता मित्रता का भाव मिट कर अभेद्रता का भाव हो गया है ।

मृतक के साथ सब से बडा कर्त्तव्य यही है कि उसमे हमको

हमको मृतक के साथ क्या करना चाहिये ? अपना सम्बन्ध तोड देना चाहिये और हृदय से सद्भावपूर्वक मूक प्रार्थना करनी चाहिये, कि उस प्राणी का कल्याण हो, क्योकि जब प्राणी स्थूल शरीर को छोड कर अपने शुभा-शुभ कर्मो के अनुसार की हुई इच्छाओ की पूर्ति के लिए योनि धारण करता है, तब यदि आप उमके साथ सम्बन्ध रक्खेगे तो उसको योनि धारण करने में देर अवश्य होगी। इस लिये जल्दी सम्बन्ध तोड़ देना चाहिये ।

मृत्यु क्या है ? मृत्यु को जानने के लिये जीवन का जान लेना आवश्यक है। जीवन इच्छाओ की पूर्ति के लिये मिला है, यह सभी जानते है । यदि सभी इच्छाओ की पूर्ति हो गई तो फिर जीवन की आवश्यकता नही होती। और जब जीवन की आवश्यकता नही होती तब मृत्यु की आवश्यकता नही होती। जीवन की आवश्यकता न रहने पर देहान्त होता हैं, मृत्यु नही, क्योकि मृत्यु जीवन के लिये होती, अर्थात् जो इच्छाएँ शेष रह जाती है उनकी पूर्ति के लिये मृत्यु एक अवस्था हैं और कोई वस्तु नही ।

जिस प्रकार थके हुए प्राणी को थकावट दूर करने के लिये नीद आवश्यक है, उसी प्रकार इच्छाओ के शेष रहने पर प्राणी को जीवन के लिये मृत्यु आवश्यक है ।

दु ख की महिमा कमी होते हुए कमी का अनुभव न करना परम भूल है। दुखी होने पर कमी का अनुभव

और कमी के अनुभव करने पर दुःख होता है । मनुष्य किसी शरीर का नाम नही है । दुःख जीवन मे परम आवश्यक वस्तु है, क्योकि प्यारा दुःख हमको अनित्य से हटाकर नित्य आनन्द से मिलाता है । दुःख सब प्रकार के विकारो को मिटाकर अन्त मे अपने आप मिट जाता है, दु.ख के मिटने पर आनन्द का अनुभव होता है, दुःख के विना जीवन बेकार समझना चाहिए, क्योकि दु.ख के विना जीवन की पूर्णता सिद्ध नही होती ।

दुःख जैसी प्रिय वस्तु किसी और को न देनी चाहिये । यदि मिल सके तो दूसरो से ले अवश्य लेनी चाहिये, क्योकि जो दूसरो के दुःख से दुःखी होते हैं उनको अपने दुःख से दुखी नही होना पड़ता ।

दुखियो के दुःख के आधार पर ही सुखियो का सुख, उन्नतिशीलो की उन्नति, विचारशीलो का विचार. प्रेमियो का प्रेम, विज्ञानियो का विज्ञान तथा योगियो का योग जीवित है । अर्थात् ऐसी कोई अच्छाई नही कि जिसका जन्म दुःख से न हो । दुखी को दुःख उस समय तक न भूलना चाहिये कि जब तक स्वय मिटकर आनन्द में विलीन न हो जाय । दुःख से डरो मत । जो दुःख से डरता है वह कुछ नही कर सकता । आप के निज स्वरूप मे अपार आनन्द छिपा है, जो दुःख की कृपा से मिलेगा, सुख की कृपा से नही ।

जीवन के दो ही स्वरूप सार्थक है, या तो हृदय मे दुःख रूप अग्नि जलती रहे या हृदय मे आनन्द का सागर लहराता रहे । इसके शिवा अन्य प्रकार का जीवन मनुष्यता के विरुद्ध है

———

४ फ़रवरी १९८०

ज्ञानयोग का साधन क्या है ? (१) जिन चीजो मे अपने को रख दिया है उनसे अपने को हटा लो, और (२) जिन चीजो को अपने मे रख लिया है, उनको अपने मे से निकाल दो ऐसा करने से ज्ञानयोग अपने आप हो जायगा ।

माया के स्वरूप माया के दो स्वरूप हैं—(१) गुणमयी माया । (२) योगमाया । गुणमयी माया से वन्धन होता है और योगमाया से वन्धन छूट जाता है ।

राग-द्वेष, सुख-दु.ख गुणमयी माया से होते हैं। त्याग, प्रेम तथा आनन्द योगमाया से होते है ।

इस प्रकार की इच्छाशक्ति उत्पन्न होने पर कि जिसके विना किसी प्रकार नही रह सकते, अर्थात् व्याकुलतापूर्वक इच्छा उत्पन्न होने पर योगमाया का प्रादुर्भाव होता है । वास्तव मे तो योगमाया व इच्छाशक्ति दोनो का स्वरूप एक है । गुणमयी माया से वासनाओ की उत्पत्ति होती है और योगमाया से वासनाओ की निवृत्ति होती है ।

गुणमयी माया=अविद्या, योगमाया=विद्या । जीव-भाव होने पर गुणमयी माया, ईश्वर-भाव होने पर योगमाया और ब्रह्म-भाव होने पर माया का अभाव हो जाता है ।

साधन से सफलता क्यों नहीं होती ? जिस प्रकार बिना प्राण का शरीर, कितना ही सुन्दर क्यो न हो, वेकार होता है, उसी प्रकार व्याकुलता रहित साधन, कितना ही उत्तम क्यो न हो, वेकार हो जाता है। साधन मे सफलता न होने का

सिर्फ यही कारण है कि कर्ता जिस लिये साधन करता है, उसके विना रह सकता है। यदि उसके विना न रह सके तो सफलता अवश्य हो जाय।

क्या और किसी साधन की सहायता के बिना केवल व्याकुलता से सफलता हो सकती है ?

सभी मिठाइयो में मीठापन केवल खाड का होता है। यदि खाने वाले को सिर्फ मीठे की रुचि हो तो फिर उसको खाड के सिवाय और किसी मिठाई की आवश्यकता नही होती, परन्तु मीठे को भिन्न-भिन्न प्रकार से खाना चाहे तो और मिठाइयो की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार सत्य के अभिलाषी को केवल व्याकुलता की आवश्यकता होती है, क्योकि ससार की सहायता से सत्य नही मिल सकता। और जिसको भोगो की अभिलाषा है उसको व्याकुलता के साथ ससार की अन्य वस्तुओ की भी आवश्यकता होती है, क्योकि कोई भी कर्म विना सगठन के नही हो सकता। और कोई भी सगठन व्याकुलता के विना उत्पन्न नही हो सकता। इसलिये व्याकुलता तो प्रत्येक कार्य में आवश्यक है।

जिस प्रकार सभी मिठाइयो मे मीठेपन की झलक केवल खांड की होती है उसी प्रकार सभी कर्मो मे रस तथा आनन्द की झलक केवल सत्य की होती है। अतएव सत् और असत् से मिले हुए रस की रुचि हो तो व्याकुलता तथा साधन दोनो चाहिये और केवल सत् की अभिलाषा हो तो केवल व्याकुलता चाहिये।

व्याकुलता बढ जाने पर कान का वही स्वरूप हो जाता है कि जिसके लिये व्याकुलता होती है, अथात् सत् के अभिलाषी का

सत् से अभेद हो जाता है। इसलिए केवल सत् के अभिलाषी को अपने सिवाय और किसी की आवश्यकता नही होती।

सबसे बड़ा दुःख कब होता है ? — सबसे बडा दुःख मनुष्य को तब होता है जब वह अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य नही पाता, अर्थात् अपने मे कमी का अनुभव करता है।

सबसे बड़ा सुख कब होता है ? — सबसे बड़ा सुख मनुष्य को तब होता है जब वह अपनी दृष्टि में अपने मे किसी प्रकार की कमी नही पाता।

स्थायी प्रसन्नता किस प्रकार मिल सकती है ? यदि स्थायी प्रसन्नता चाहते हो तो अपने से भिन्न अर्थात् दूसरो के सहारे से आने वाली सभी प्रसन्नताओ को मिटा दो, क्योकि छोटी छोटी प्रसन्नताओं के मिट जाने पर अखण्ड स्थायी प्रसन्नता का अनुभव हो जाता है।

—※—

७ फरवरी १९४०

क्रिया किस में होती है और क्यों होती है ? — यदि विचार दृष्टि से देखा जाय तो यही मालूम होता है कि एक-एक कर्मेन्द्रिय का एक-एक ज्ञानेन्द्रिय से सम्बन्ध है। अतएव ज्ञानेन्द्रियो के बिना कर्मेन्द्रियो मे क्रिया नही होती है। जिस प्रकार जो सुन नही सकता वह बोल नही सकता, ऐसा देखने मे आता है। त्वचा का और हाथ का, नासिका का और गुदा का, आँख का और पैर का तथा रसना और उपस्थ का

भी उसी प्रकार सम्बन्ध है। परन्तु यदि मन ज्ञानेन्द्रियो का साथ न दे तो फिर ज्ञानेन्द्रियो मे भी क्रिया नही हो सकती । यद्यपि प्रत्येक इन्द्रिय की क्रिया एक दूसरे से भिन्न प्रकार की है, किन्तु एक ही मन पाँचो इन्द्रियो से भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रिया करता है, जिस प्रकार एक सेव के फल को रसना चखकर, आँख देखकर और नाक सूँघ कर सेव कहती है । अर्थात् क्रिया मे भिन्नता होते हुए भी सभी इन्द्रियो का ज्ञान एक होता है । इसमे यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि पाँचो इन्द्रियो का ज्ञान एक ही मन से होता है। यह भी अनुभव होता है कि यदि मन इन्द्रियो का साथ न दे, तो इन्द्रियाँ होते हुए भी बेकार सी हो जाती है। इससे यही समझना चाहिये कि मन के बिना इन्द्रियाँ काम नही कर सकती, और मन बुद्धि के बिना काम नही कर सकता। यद्यपि मन, बुद्धि, चित्त, अहकार इन चारो का स्वरूप एक है, किन्तु क्रिया-भेद से चार प्रकार के मालूम होते है, क्योकि एक काल मे चारो की क्रिया का एक साथ अनुभव नहीं होता। जब मन क्रिया करता है तब और अन्य तीनो नही करते, अर्थात् एक की ही क्रिया एक समय में होती है, परन्तु बुद्धि की आज्ञा को सभी स्वीकार करते है । बुद्धि की प्रवृत्ति चाह के अनुसार होती है, यदि किसी प्रकार की चाह न रहे तो फिर बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धि के सम होते ही मन, इन्द्रियाँ आदि सभी सम हो जाती है, अर्थात् सभी क्रियाओ का अन्त सा हो जाता है।

अब यह विचार करना है कि चाह उत्पन्न क्यो होती है, और किसमे होती है ? चाह उसमे उत्पन्न होती है कि जो विषयों के रस का आस्वादन करता है तथा जो अपने मे किसी प्रकार की

कमी नही रखना चाहता है । उसमे ही, अर्थात् सीमित अहंभाव में ही चाह उत्पन्न होती है। यह भली प्रकार विचार करने से मालूम होता है कि चाह वास्तव मे दो प्रकार की होती है। एक तो विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) के रस के आस्वादन की और दूसरी किसी प्रकार की कमी न रहने की, अर्थात् सब प्रकार से पूर्ण होने की। इन दो प्रकार के सिवाय और किसी प्रकार की चाह कभी देखने में नही आती।

विषयों की चाह की पूर्ति के लिए कर्म में रुचि होती है, और पूर्णता की चाह की पूर्ति के लिए ज्ञान मे रुचि होती है, क्योंकि अनेक वार विषयो का रसास्वादन करने पर भी कमी शेष रहती है । इसलिए विषयो का त्याग करने लिए पूर्णता का अभिलाषी मजबूर हो जाता है। विषयो का राग मिटने पर कर्म की रुचि मिट जाती है और फिर एक ही चाह शेष रहती है। जिस समय वह एक चाह रह जाती है । उस समय संसार की सुन्दरता, सत्यता, सुखरूपता बिलकुल मिट जाती है। इन्द्रियों के ज्ञान पर विल्कुल विश्वास नही रहता। ऐसी दशा मे अजीब व्याकुलता होती है जो कहने मे नही आती।

सीमित अहभाव न तो जड़ मालूम होता है न चेतन, क्योकि जड़ से मिलकर जड़ और चेतन से मिल कर चेतन प्रतीत होता है । सीमित अहंभाव का स्वतन्त्र कोई स्वरूप नही दिखाई देता । सीमित अहंभाव के मिटने पर सभी प्रकार की क्रियाओ का अन्त हो जाता है । चाह के समूह के शिवाय

सीमित अहभाव का और कोई स्वरूप नही मालूम होता, क्योकि सभी चाहो के मिट जाने पर सीतित अहभाव मिट जाता है और फिर संसार का पता नही चलता। शरीर और संसार दोनों का स्वरूप एक है, क्योकि स्थूल शरीर का स्थूल पचभूतों से अभेद सम्बन्ध है। जिस प्रकार सूर्य (अग्नितत्व) के विना कोई भी आँख देख नही सकती और सूर्य के बिना किसी प्रकार का रूप बन नही सकता, अर्थात् सूर्य, आँख तथा रूप इन तीनो का एक ही स्वरूप है, उसी प्रकार आकाश के बिना शब्द उत्पन्न नही होता और आकाश के बिना कान सुन नही सकते, अर्थात् आकाश, शब्द और कान तीनो एक है। इसी प्रकार जल के बिना रस उत्पन्न नही होता और जल के विना रसना रसास्वादन कर नही सकती अर्थात् जल, रस, रसना तीनो एक है। वायु के विना त्वचा उत्पन्न नही होती और वायु के विना स्पर्श भी नही हो सकता, अर्थात् वायु, त्वचा तथा स्पर्श तीनो एक है। पृथ्वी के विना गन्ध उत्पन्न नही होती और पृथ्वी के बिना नासिका सूँघ नही सकती, अर्थात पृथ्वी, नासिका तथा गन्ध तीनो एक है।

इस प्रकार शरीर का कुल ससार से अभेद सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। अतः ये अंग और अंगी के समान एक ही है। एक शरीर का अहभाव संसार से भिन्नता मानने पर उत्पन्न होता है जो स्वरूप से मिथ्या है। शरीर का यथार्थ ज्ञान होने पर सीमित अहंभाव मिट कर असीम अहभाव आ जाता है (अर्थात् जीव-भाव मिट कर ईश्वर-भाव आ जाता है), क्योकि जो अंग का मालिक है वही अंगी का मालिक हो सकता है। अंगी का कोई अलग अभिमानी नही हो सकता।

सीमित अहंभाव का अभाव होने पर असीम अहंभाव भी मिट जाता है और फिर शुद्ध, निर्विकार, सब प्रकार से पूर्ण, अखड, अविचल, आनन्दघन, बोधस्वरूप, स्वयप्रकाश, परमतत्व शेष रहता है। उसमे कभी किसी प्रकार की क्रिया अनुभव नहीं होती और न पर-प्रकाश्य (असत्) जड संसार मे ही क्रिया हो सकती है तथा जड़ और चेतन का मेल भी नही हो सकता, क्योकि मिलाप अभिन्न स्वरूपो मे ही हो सकता है, विरोधी स्वरूपों मे नही। जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार दोनो कभी एक समय में नही मालूम होते उसी प्रकार जड और चेतन दोनों एक समय में अनुभूत नही होते। क्रिया चेतन मे भी नही होती, क्योकि वह पूर्ण है।

विषयो के राग और ज्ञान की कमी से सीमित अहभाव उत्पन्न होता है और सीमित अहंभाव से ही क्रिया उत्पन्न होती है। सीमित अहंभाव बिना किसी के आधार के रह नही सकता। यह जिसको आधार करता है उसका ही स्वरूप हो जाता है, इसलिये सीमित अहभाव मे जड़ या चेतन की कल्पना करना उचित नही मालूम होती, सिवाय इसके कि चेतन का ज्ञान होने पर चेतन और जड का ज्ञान होने पर इसे जड़ कह देते हैं। वास्तव मे तो उनका स्वरूप मिथ्या अनुभव होता है।

जिसका कारण मिथ्या है उसका कार्य सत्य नही हो सकता। अतः क्रिया किसमे होती है, क्यो होती है, इसका कथन नही किया जाता, बल्कि ज्ञान होने पर यह प्रश्न हल हो जाता है।

अतः पाठको को चाहिये कि यह प्रश्न हल करके ही शान्ति प्राप्त करें, केवल सुनकर नही।

प्राणायाम

सुगमता से प्राणायाम किस प्रकार हो सकता है ?

कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ दोनो मन में एक हो जाती है, इसीलिये मन मे क्रिया और ज्ञान दोनो ही मालूम होते हैं। मन मे जो ज्ञान शक्ति है वह बुद्धि का अ ग है और जो क्रिया शक्ति है वह प्राण का अ ग है। इसीलिये मन का निरोध होने पर प्राण का निरोध (कुम्भक) अपने आप हो जाता है। प्राण के निरोध से मन दब जाता है। अतएव मन और प्राण का घोडे और सवार के समान सम्बन्ध है। अतः सुगमता के साथ प्राणायाम करने वाले महानुभावो को मन का विचार पूर्वक निरोध करना चाहिये।

योग क्या है ?

भोग का अत्यन्त अभाव हो जाना ही वास्तव मे योग है, क्योकि विषयो से अरुचि होने पर योग की रुचि उत्पन्न होती है।

—※—
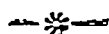
११ फरवरी १९४०

कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग

कर्मयोग में आस्तिकतापूर्वक कार्य कुशलता[1] होती है।

१ कर्म करते समय अपने को बचा न रक्खें, अर्थात् पूरी शक्ति लगा दे और जो काम जिसके लिये करना चाहिये उसके शिवाय किसी प्रकार की विलासिता का भाव नही होना चाहिये। यही कार्य-कुशलता है।

भक्तियोग मे पवित्रतापूर्वक भाव की प्रवलता[1] होती है ।

ज्ञान योग मे असगतापूर्वक विचार की विशेषता[2] होती है ।

कर्म योग प्रेमपात्र के नाते से न्यायपूर्वक यथाशक्ति वर्तमान में ही सभी कामोको करने पर योग अपने आप हो जाता है, अर्थात् वियोग का दु ख मिट जाता है तथा प्रेमपात्र का अनुभव होकर अनुपम अचल आनन्द प्राप्त होता है ।

भक्ति-योग लगातार स्मरण, चिन्तन ध्यान होने से जब अत्यन्त व्याकुलता वढ जाती है तब सद्भाव[3] पूर्वक सब कुछ समर्पण होने से योग अपने आप हो जाता है । अर्थात् भक्त की दृष्टि मे सृष्टि का अभाव हो जाता है और अखड सच्चिदानन्दघन ही सब ओर अनुभव होता है, क्योकि जिस प्रकार रात्रि का अभाव होने पर दिन अपने आप आ जाता है उसी प्रकार ससार का अभाव होने पर प्रेमपात्र आ जाता है ।

---

१ स्वार्थ का लेशमात्र भी भाव न हो, अर्थात सब प्रकार का राग मिट जाय और प्रेमपात्र के मिलने का भाव निरन्तर उत्तरोत्तर वढता रहे । यही पवित्रतापूर्वक भाव की प्रवलता है ।

२. विचार द्वारा जो निर्णय हो उसके विपरीत क्रिया करने मे असमर्थ हो जाय अर्थात् ज्ञान और अभ्यास का एक स्वरूप होना ही विचार की विशेषता है ।

३. सद्भाव क्या है ?—जिस भावना के विपरीत भाव न हो, अर्थात् एक वार होने पर ही सदा के लिये अचल हो जाय । जैसे पतिव्रता नारी जिसको एक वार अपना पति मान लेती है उस भाव को फिर किसी प्रकार भी मिटा नही सकती ।

ज्ञान-योग — विचारपूर्वक अत्यन्त जिज्ञाश बढ जाने पर जब बनाये हुए सभी सगठन मिट जाते हैं, तब अकथनीय अपार निज स्वरूप का अनुभव होने से योग अपने आप हो जाता है और फिर किसी प्रकार की कमी शेष नही रहती।

[१-कर्म-योग मे करने का भाव होता है। २-भक्ति-योग मे होने का भाव होता है। ३-ज्ञान-योग मे असगता तथा न होने का भाव होता है।]

—※—
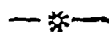
१३ फरवरी १९४०

धर्म क्या है ? — जिसके धारण करने से भय-रहित नित्य शान्ति प्राप्त हो।

धर्मानुसार व्यव-हार किस प्रकार किया जाय ? — यदि आप अपने किये हुए काम से मुक्त नही होते तो समझ लो कि आपने उस काम को धार्मिक दृष्टि से पूरा नही किया, क्योकि प्रत्येक काम का करना न करने के लिये अर्थात् उस काम से ऊपर उठ जाने के लिये होता है।

धर्मानुसार कार्य करने वाले महापुरुषो को यह भली प्रकार जान लेना चाहिये कि धर्म की प्रवृत्ति भोग तथा मोक्ष दोनो के लिये होती है। वे भोग, जिनको पूरा करने के लिये साधन प्राप्त हैं, यथाशक्ति अपने को पूरा लगा कर भोगने पर उनसे अरुचि उत्पन्न हो जायगी। उस समय

---

१ मानी हुई सत्ता मे सद्भाव का हो जाना ही संगठन है, अर्थात् सभी व्यक्तित्व सगठन से बनते हैं। जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध का समुदाय होने पर शरीर का व्यक्तित्व बना है अर्थात् जो कुछ बुद्धि आदि का विषय हो सकता है उसे संगठन समझना चाहिये।

उनको चाहिये कि उस अरुचि को स्थिर करने का प्रयत्न करें, अर्थात् भोग के अन्त मे दु ख से छूटने (मोक्ष) की रुचि बढाये। वह रुचि फिर उनको भोग की ओर नही जाने देगी । जिस प्रकार शोधन किया हुआ सखिया अनेक प्रकार के रोगो को मिटा देता है उसी प्रकार धार्मिक भाव से भोगे हुए भोग, भोग-वासना से ऊपर उठा देते है ।

—※—

वासना की निवृत्ति कैसे हो ? विचार करो कि वासना क्यो उत्पन्न होती है ? वासना उत्पन्न होने का कारण केवल यही है कि जिसकी वासना होती है उसका अभी ज्ञान नही हुआ है, अर्थात् वह नही मिला । जिसको भोग का ज्ञान हो जाता है उसकी भोग-वासना मिट जाती है और जिसको मोक्ष का ज्ञान हो जाता है उसकी मोक्ष-वासना मिट जाती है ।

ऐसा कोई भोग नही होता कि जिसका अन्त न हो परन्तु भोग का अन्त होने पर धर्मानुसार आचरण न करने वाले महानुभाव, भोगने की शक्ति न होते हुए भी, व्यर्थ भोगो का चिन्तन करते हैं अर्थात् धर्म का दूसरा अंग जो मोक्ष है उससे विमुख हो जाते है ।

धर्मात्मा पुरुष की ससार अभिलाषा करता है, क्योकि धर्मात्मा ससार की अभिलाषा नही करता । अभिलाषा वही करता है, जो अपने धर्म का पालन नही करता । सारा संसार धर्मात्मा के दर्शन की प्रतीक्षा मे है । यदि आप ससार को अपनी ओर बुलाना चाहते हैं, तो धर्म का पालन करे ।

धर्मात्मा अपनी ओर देखता है, ससार की ओर नही । अर्थात् यदि धर्मात्मा पिता है तो वह यह नही देखता कि पुत्र

कैसा है, वल्कि यह देखता है कि पुत्र के साथ क्या करना चाहिये। धार्मिक भाव से पिता हो जाने पर पुत्र-वासना मिट जाती है ।

धर्मात्मा को यह देखने तथा सुनने की फुरसत नही होती कि संसार क्या देखता है, क्या करता है, क्योकि बेचारा ससार तो वह करना चाहता है जो धर्मात्मा करता है और वह सुनना चाहता है जो धर्मात्मा कहता है । ससार की ओर वही देखता है जो अपने धर्म का पालन नही करता ।

धर्म एक है अनेक नही । जिस प्रकार रेलवे स्टेशन पर मुसलमान के हाथ में होने से मुसलमान पानी और हिन्दू के हाथ मे होने से हिन्दू पानी कहलाता है, यद्यपि बेचारा पानी न तो हिन्दू होता है न मुसलमान उसी प्रकार जव लोग धर्मात्मा को किसी कल्पना मे बॉध लेते है तव उसके नाम से उस धर्म को कहने लगते है, वास्तव में तो धर्म वह है जो करने मे आये, कहने मे नही। यदि यह जानना चाहते हो कि धर्म क्या है, तो यही कहा जा सकता है कि धर्म के न रहने से किसी प्रकार का आदर नही रहता और अधर्मी का सभी तिरस्कार करते है, जिस प्रकार जव अग्नि मे अग्निपन नही रहता, तब उस राख को टट्टी पर डालकर फेंक देते हैं कि जिसका पहले पूजन करते थे तथा जिससे सभी डरते थे । ससार की वड़ी से वड़ी शक्ति भी धर्मात्मा का तिरस्कार नही कर सकती ।

अव अपनी दृष्टि से अपने को देखो कि आपके साथ ससार क्या करता है ? ससार उसका ही तिरस्कार कर सकता है कि जो अपनी दृष्टि से अपने को आदर के योग्य नही पाता। धर्मात्मा ही अपनी दृष्टि से अपने को आदर के योग्य पाता है ।

—※—

ओ३म्

स्वामीजी के कुछ पत्रोत्तर

कबीर चौरा, बनारस सिटी
२० मार्च १६४० ई०

(१)

प्रिय आनन्दघन !

कृपापत्र मिला। सद्भावपूर्वक सम्बन्ध बदलता नहीं और न दो चीजों से होता है, अर्थात् एक ही से होता है। सम्बन्ध होने पर प्रेम-पात्र से अपनत्व हो जाता है। अब विचारपूर्वक देखो क्या आपका शरीर से अपनत्व नही रहा ? यदि नही रहा तो अपनत्व किससे है ? जिससे अपनत्व हो जाता है उसके बिना कल नही पड़ती और अन्त मे एकता अनुभव होती है। जब उनमे अपनत्व नही है तब जिससे अपनत्व है उसको मिटाओ, अर्थात् अपने मे जो शरीर-भाव स्थापित कर लिया है, उसको विचारपूर्वक निकाल दो। किसी के निकलने पर किसी का आना अवश्य होता है, क्योकि स्थान खाली नही रहता। सम्बन्ध कभी धीरे-धीरे नही होता, एक बार होता है। सम्बन्ध की आवश्यकता अनुभव करो। आवश्यकता होने पर आप सम्बन्ध करने के लिए मजबूर हो जाएँगे। जो करना होता है वह किया नही जाता, बल्कि उसका कारण उपस्थित होने पर करना अपने आप हो जाता है।

आस्तिकता की दृढ़ता अपने आप, आस्तिकता की आवश्यकता होने पर होगी। आस्तिकता के बिना क्या आप अपनी रुचि की पूर्ति कर पाते है ? अर्थात् क्या शरीर तथा ससार की सहायता से आपकी रुचि पूरी हो सकती है ? यदि पूरी नहीं हो सकती तो फिर बिना आवश्यकता के ससार की ओर क्यो देखते है ? यदि यह कहो कि नही देखते, तो फिर किसकी ओर देखते हो ? संसार की ओर देखने की रुचि मिट जाने पर ससार नही दिखाई देता, बल्कि ऐसा मालूम होता है कि पानी मे डूबा हुआ आदमी कभी पानी के ऊपर आने पर संसार को देखता है, कभी डूब जाने पर नही देखता। और जब तक रुचि बनी रहती है तब तक सिवाय संसार के कुछ और अनुभव नही करता। ससार की ओर से की हुई प्रतिक्रियाओ से क्रियायें होती हुई सी मालूम होती हैं, करने का भाव नही होता। देखो जिस प्रकार भोजन पचता रहता है, परन्तु आपको यह नही मालूम रहता कि हम भोजन पचाते रहते हैं, 'स्वयं पच रहा है'—ऐसा सभी को मालूम होता है, उसी प्रकार करने का भाव मिट जाने पर भी क्रिया हो सकती है, पर उन क्रियाओ का फल कुछ नही बनता। कर्ता मिटकर अपनी रुचि के अनुसार स्वरूप को धारण करता है। देखो जिसमें चाह उत्पन्न हुई है जब तक वह नही मिटता तब तक चाह के अनुरूप किस प्रकार हो सकता है ? यह सभी जानते हैं कि एक चीज मिटकर दूसरी चीज बनती है। प्राणी मिटने के डर से सत्य से विमुख रहता है। सुख-दुःख मिटने पर आनन्द आ जाता है। ससार से सम्बन्ध होने पर सुख-दुःख का अनुभव होता है और मिटने पर आनन्द का। आनन्द की स्थायी अभिलाषा होने पर आस्तिकता दृढ़ हो जायगी।

इसी प्रकार संसार की चाह मिटने पर ससार से सम्बन्ध नही रहेगा। देखो, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की आवश्यकता ससार की चाह होने पर होती है। ससार की चाह मिटने पर इन सब का काम शान्त हो जाता है। इनका काम शान्त होते ही सच्ची आस्तिकता आ जाती है जो फिर जाती नही। घड़े का तोड़कर मिट्टी का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर बना हुआ घडा देखने पर भी मिट्टी का ही ज्ञान होता है। एक बार मिट्टी के ज्ञान के लिये घडे का तोड़ना आवश्यक है उसी प्रकार सत्य के ज्ञान के लिये संसार का त्याग आवश्यक है। सत्य का मार्ग इतना तंग है कि उस पर आप अकेले ही जा सकते है। इसलिये इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के साथ रहने का मोह छोड दे। इनके साथ रहकर आप उस तंग रास्ते पर नही चल सकते। अकेले होने पर मार्ग अपने आप दिखाई देगा। ओ३म् आनन्द आनन्द।

आपका अभेदस्वरूप

... ...

———

(प्रश्न—जब सुख का परिणाम दु:ख है तो प्राणी दूसरो को सुख क्यो दे ?

(२)

दारानगर, काशी

२१ मार्च १६४० ई०

प्रिय आनन्दघन !

जो प्राणी सुख-भोग करता है वही दु.ख पाता है इसमें कुछ भी सन्देह नही है। दूसरो को सुख देने का प्रयत्न करने वाला स्वयं दूसरे के दु.ख से दु खी होता है और यह नियम है कि दु ख

आ जाने पर विचार उत्पन्न होता है, जो उन्नति का मूल है। जिस प्राणी का जीवन दूसरो की पूर्ति के लिये होता है, उसके हृदय मे ससार का सच्चा स्वरूप प्रकट हो जाता है और वह फिर उसमे ऊपर उठ जाने के लिये समर्थ हो जाता है, अर्थात् फिर उसे सुख तथा दु ख स्पर्श नही कर पाते।

ससार का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये दुखियो के साथ प्रेम करना आवश्यक है। किसी को सुख इसलिये नही दिया जाता कि उसकी उन्नति होगी, बल्कि सुख देने वाला स्वय अपनी उन्नति करता है और सुख लेने वाले का हृदय इस प्रकार का हो जाता है कि वह फिर दूसरे दुखियो के दु ख से दुखी होने लगता है, जिससे फिर वह भी उन्नति की ओर चलता है। सुख और दु ख रास्ते के मुकाम हैं ठहरने के स्थान नही। दु ख का ज्ञान होने के लिये सुख आवश्यक है, क्योकि सुख के विना दु ख का अनुभव हो नही सकता और दु ख के बिना जीवन अधूरा समझना चाहिये। दूसरे का दिया हुआ सुख विचारशील को इसलिये स्वीकार कर लेना चाहिये कि दूसरो को सुख देने का ढंग आ जाय। जो स्वय दुखी नही होता वह सुख दे नही पाता। सुख देने वाले महानुभाव के हृदय मे सर्वदा रसीला दु ख रहता है, नीरस नही। नीरस दु ख तो दूसरो को दु.ख देने से होता है। इसलिये दु ख देने वाला अवनति की ओर जाता है।

यदि कोई ऐसी क्रिया हो कि जिसमें दोनो एक दूसरे से सुख का अनुभव करे' जैसे मित्र-मित्र, पति-पत्नी तथा पिता-पुत्र आदि अनुभव करते हैं, तो ऐसी क्रियाओ मे न तो सुख देने का भाव होता है और न दु ख देने का, बल्कि एक दूसरे को अपनी पूर्ति प्रतीत

होती है । जो क्रिया अपनी पूर्ति के भाव से की जाती है, वह कालान्तर मे दु.ख अवश्य हो जाती है और जो क्रिया भावरहित की जाती है, उसका अर्थ कुछ नही होता, अर्थात् बेकार होती है । जब तक स्थायी आनन्द न मिले तब तक हृदय मे रसीला दु.ख होना चाहिये, जो दुखियो से प्रेम करने पर होता है । सुखमय जीवन तो सर्वदा अवनति की ओर ले जाता है । ओ३म् आनन्द आनन्द ।

आपका अभेदस्वरूप

. .. .

(भगवत्कृपा कैसे प्राप्त हो ?)

(३)

कबीरा चौरा, बनारस
२८ अप्रैल १९४०

प्रिय आनन्दघन !

जिस प्राणी को अपने कर्तव्य का बल होता है, वह कर्तव्य की शक्ति समाप्त कर देने पर भगवत्-प्राप्ति कर पाता है । और जिस प्राणी को अपने कर्तव्य का बल नही होता वह भगवत्-कृपा से भगवत् प्राप्ति कर लेता है । उनकी कृपा का आधार सर्वोत्तम आधार है । कृपा का अभिलाषी निरन्तर कृपालु की बाट देखता रहता है, यहाँ तक कि उसे प्रेम पात्र की प्रतीक्षा मे पलक तक चलाने की फुरसत नही मिलती । मन, इन्द्रिय आदि चेष्टा रहित हो जाते हैं और हृदय एक अजीब मधुर रस से भर जाता है । ऐसी अवस्था बनाई नही जाती, बल्कि हो जाती है । यह नियम है कि बनाई हुई सभी वस्तुऐं मिट जाती है । इसलिये अपने को बनाओ मत । जिस समय

आपके हृदय की सरलता कम हो जाय उस समय सचेत हो जाना चाहिये। करने के आधार से किसी प्रकार उनको नही पा सकते, क्योकि करने वाला मजदूर है। कर्तव्य का अभिमान सच्ची व्याकुलता नही होने देता, अभिमान मिटने पर व्याकुलता अपने आप आ जायगी। दूसरो के कर्तव्य को वही देखता है जो अपने कर्तव्य का पालन नही करता। उन्होने कृपा नही की' यह कैसे जाना ? आपको जो करना है वह कर डालो, उनको जो करना है वह वे स्वय करेंगे। जिन्होने उनकी कृपा का सहारा पकडा है, वे सभी पार हो गये हैं, ऐसा अनेक घटनाओ से अनुभव हुआ है। जो संसार का सहारा नही पकड़ता उसे कुछ भी करना शेप नही रहता। जिस समय आप अकेले हो जायेगे, वह विना बुलाये आ जायेगे। यदि उनसे मिलना चाहते हो तो अकेले हो जाओ। मिलने के पहले स्तुति करना अपने आपको धोखा देना है, क्योकि जिसका ज्ञान नही उसकी स्तुति कैसी ? मिलने की भावना पूरी होने पर हृदय की जो दशा होती है, वही स्तुति है। दूसरो की की हुई स्तुति आपके किस काम आयेगी ? ससार से निराश हो जाओ, यही सच्चा भजन है। ओ३म् आनन्द आनन्द।

आपका अभेदस्वरूप

....

(वैराग्य आदि किस प्रकार सीखा जाय ?)

जीवन की समस्त आवश्यकताए' जीवन मे उपस्थित हैं, परन्तु जीवन को जव हम वाह्य रंगो में रग देते है तव जीवन का वास्तविक-स्वरूप हम नही जान पाते। विचार दृष्टि से देखो कि गहरी नीद मे समस्त ससार छूट जाता है और किसी प्रकार

का दुख. नही मालूम होता है। स्वप्न मे जागृत का ससार छूट जाता है और जागृत में स्नप्न का ससार छूट जाता है। इससे यह भली प्रकार मालूम होता है कि ससार की सभी परिस्थितयो के बिना भी हम रह सकते है, हमको अपने लिये संसार की आवश्यकता नही रहती। ससार सिर्फ हमारा खिलौना है, और कुछ नही। खिलौनों मे आसक्ति अबोध बालक की होती है, विचारशील की नही।

—※—

सत्-उपदेश

१—अपने को शरीर कभी मत समझो।

२—किसी भी काम से प्रसन्नता मत खरीदो।

३—सत्य के लिये भविष्य की आशा मत करो।

४—भूत काल की सभी घटनाओ को भूल जाओ।

५—अनुकूलता की आशा तथा प्रतिकूलता का भय मत करो।

६—थोड़े-थोड़े समय बाद हृदय से प्रेमपात्र को बुलाया करो।

७—जो वस्तु कर्म से प्राप्त होती है उसके लिये संसार की सहायता तथा भविष्य की आशा की आवश्यकता होती है, परन्तु जो वस्तु त्याग से प्राप्त होती है उसके लिये संसार की सहायता तथा भविष्य की आशा की आवश्यकता नही होती।

—※—

अन्तिम-संदेश

व्यक्तित्व की गुलामी से सत्य नही मिलता।

———

अजमेर का सत्संग

२१ मार्च १९४१

चाह होते हुए भजन क्यो नहीं होता ?

भजनकर्ता महानुभाव को भजन करने से पहले यह भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि भजन क्यो करना चाहिये ? यह नियम है कि आवश्यकता के अनुसार कर्त्ता की प्रवृत्ति स्वाभाविक हो जाती है। अतः कर्ता को क्रिया के आरम्भ से प्रथम अपनी आवश्यकता का भली प्रकार ज्ञान होना चाहिये। आवश्यकतारहित कर्त्ता का कोई स्वरूप नही, जिस प्रकार रूप की आवश्यकता ही आँख की क्रिया है, रूप की आवश्यकता निकाल देने पर आँख का स्वरूप शेष नही रहता। आवश्यकता के अनुसार कर्त्ता क्रिया करने मे पूर्ण स्वतन्त्र है। परतंत्रता उन्ही क्रियाओ मे मालूम होती है, जिनको कर्त्ता अपने लिये नही करता, अर्थात् जो क्रियाएँ कर्त्ता की आवश्यकता की पूर्ति मे समर्थ नही होती।

क्रिया में प्रवृत्ति संकल्प की दृढता से होती है। संकल्प इच्छा के अनुसार होता है और इच्छाएँ अभिलाषा के अनुसार होती हैं। अतः यथार्थ स्थायी अभिलाषा होने पर शुभ इच्छाएँ अवश्य उत्पन्न होगी। शुभ इच्छाओ के अनुसार शुभ संकल्प और संकल्प के अनुसार क्रिया मे प्रवृत्ति होती है।

यद्यपि प्रत्येक मानव भजन करता है, परन्तु आस्तिक समुदाय उसको भजन के भाव से स्वीकार नही करता। गहराई से देखो, भजन की आवश्यकता क्यो होती है ? भजन की आवश्यकता दो अवस्थाओ मे होती है, एक तो यथार्थ अभिलाषा का बोध होने पर, दूसरे शक्तिहीनता का अनुभव होने पर। शक्ति-सचय के लिये सभी भजन करते हैं।

भजन का वास्तविक स्वरूप क्या है ? वर्तमान विषय-जन्य प्रवृत्ति मे हट जाना। शक्तिहीनता का अनुभव होने पर भजन करने वाला कुछ काल के लिये ही उस प्रवृत्ति से हटता है, क्योकि शक्ति सचय कर वह फिर विषयो में प्रवृत्त हो जाता है। परन्तु यथार्थ अभिलाषी विषयो की प्रवृत्ति से सदा के लिये हट जाता है। अत. वह जिसका भजन करता है, उससे उसका अभेद हो जाता है।

यथार्थ अभिलाषा का वोध विषयो के समझने पर होता है। विचारो, स्वतत्रता सभी को प्रिय है, परन्तु विषयो को प्राप्त करने मे सभी परतत्रता का अनुभव करते हैं। तथा विषयो के उपभोग एवं उनको सुरक्षित रखने मे भी परतंत्रता का अनुभव होता है। अत: वेचारे विषयी का जीवन परतंत्रतामय हो जाता है, अर्थात् विषयो की प्रवृत्ति ही परतंत्रता है। इसलिए स्वतंत्रता का अभिलाषी ही सच्चा भजन करने मे समर्थ होता है।

भजन करते हुए भी भजन में सफलता क्यो नही होती ? भजन होने पर भजन मे सफलता अवश्य होनी है, क्योकि भजन प्राकृतिक कर्म के समान नही है। प्राकृतिक कर्म अपने से भिन्न वाह्य साधन युक्त होता है तथा भविष्य मे फल देता है और भजनकर्त्ता स्वय ही भजन कर सकता है, अर्थात्

उसे किसी और वाह्य साधन की अपेक्षा नही होती। अत: भजन वर्त्तमान में ही, जिसके लिये किया जाता है उसकी अनुभूति कराने में समर्थ होता है, क्योकि वास्तव मे वह स्मरण स्मरण नही है, जिससे कि स्मरण से पूर्व जो सत्ता प्रतीत होती है, उसका विस्मरण न हो जाय, अर्थात् यह अखड नियम है कि किसी का स्मरण किसी का विस्मरण हो जाता है।

नाम तथा मंत्र आदि का जप तो केवल नामी के अनन्त एश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न स्वरूप की सत्ता की स्वीकृति मे समर्थ है, अर्थात् नाम आदि का जप तो एक शुभ कर्म ही है, जो अशुभ कर्म को हटाने मे समर्थ है, प्रेम-पात्र से मिलाने मे तो स्मरण अर्थात् विरह की व्याकुलता ही समर्थ है।

प्रत्येक कर्त्ता मे क्रिया-शक्ति, भाव-शक्ति तथा ज्ञान-शक्ति विद्यमान है। विषयासक्त प्राणी क्रिया-जन्य आसक्ति का रस चखता है। क्रिया-जन्य रस विना संगठन के सिद्ध नही होता। अत: विषयी वेचारा संसार की गुलामी से छूट नही पाता। यदि की जाने वाली सभी आवश्यक क्रियाओ को एक ही भाव मे विलीन कर दिया जाय तो फिर क्रिया-जन्य रस की आसक्ति मिट जाती है। उसके मिटने ही क्रिया भाव मे विलीन होती है, अर्थात् व्याकुलतापूर्वक प्रेम-पात्र मे मिलने की रुचि उत्पन्न हो जाती है। जब व्याकुलता पूर्ण हो जाती है तब भाव-शक्ति ज्ञान-शक्ति में विलीन हो प्रेम-पात्र को मिलाने मे समर्थ होती है, अर्थात् ज्ञान से ही प्रेम पात्र का अनुभव होता है, क्योकि न जानने को दूरी है। उत्पन्न होने वाली सभी सत्ताएँ उसी समय तक जीवित रहती है, जब तक कि वे पूर्ण नही हो जाती।

क्रिया की पूर्णता यही है कि हमारी सभी क्रियाएँ प्रेम-

पात्र के नाते से सभी के लिये हो, क्योकि किसी भी व्यक्ति की समार से भिन्नता नही है। अत. विश्व के साथ एकता करना आवश्यक है और उस विश्व की सेवा प्रेमपात्र के नाते से करनी है, विश्व के नाते से नही। क्रिया की पूर्णता होने पर क्रिया-जन्य रस अर्थात् विषयो का राग शेष नही रहता। जिस कम से विषय-विराग न हो वह कर्म अधूरा है। अधूरा कर्म करने वाला प्राणी कर्म मे छूट नही सकता, यद्यपि करने का अन्त करना सभी को प्रिय है परन्तु सभी अपने को बचाते हैं, इसलिये छूट नही पाते।

जो भक्त-प्रेम-पात्र के नाते से सेवाभावपूर्वक सभी आवश्यक क्रियाओ को करता है, वह प्रत्येक क्रिया के अन्त मे प्रेमपात्र की ओर स्वय चला जाता है। अन्तर सिर्फ यह रहता है कि क्रियाके अन्त मे किसी भक्त का तो स्मरण होता है और किसी का ध्यान। स्मरण, ध्यान आदि से उत्थान होने पर जब बार-बार व्याकुलता होती है तब भक्त उस व्याकुलता को सहन नही कर पाता। बस, उसी काल मे भक्त-प्रेम-पात्र की कृपा से अभिन्न हो जाता है। सेवा-भाव पूर्ण होने पर क्रिया का रस नही आता, बल्कि भाव का रस आता है, जिससे तन्मयता बढती जाती है। यद्यपि तन्मयता का रस भी भाव की कमी है, क्योकि उसमे भोक्ता की सत्ता शेष रहती है। यद्यपि भावजन्य रस अत्यन्त मधुर है, किन्तु नित्य नही। भाव की पूर्णता होने पर व्याकुलता की अग्नि से भोक्ता की सत्ता मिट जाती है, यही भाव की पूर्णता है।

भोक्ता की सत्ता का मिट जाना ही प्रेम-पात्र से एकता है।

हमारी चाह का अन्त क्यो नहीं होता ?

माने हुए सम्बन्ध की स्वीकृति से जातीय अभिलाषा, अर्थात् प्रत्येक मानव जो अपने मे किसी प्रकार की कमी रखना पसन्द नही करता, वह किसी प्रकार मिट नही सकती। अव विचारो कि माना हुआ सम्बन्ध किससे है ? माना हुआ सम्वन्ध शरीर आदि सभी ससार मे है, क्योकि शरीर से किसी काल मे भी स्वरूप से एकता नही होती। यह सभी कथन करते है कि 'यह मेरा शरीर है'। माने हुए सम्त्रन्ध की अस्वीकृति करने पर केवल आनन्द की अभिलापा शेष रहती है, वह विषयो की सभी इच्छाओं को खा लेती है और अन्त मे निज-स्वरूप अथवा प्रेम-पात्र की कृपा से पूर्ण हो जाती है। यदि चाह का अन्त करना चाहते हो तो विचारपूर्वक माने हुए सम्बन्ध का अन्त कर दो। जातीय अभिलाषा स्वय अपनी पूर्ति में समर्थ हैं, उसकी पूर्ति के लिये किसी बाह्य परिस्थिति की आवश्यकता नही है। आनन्द से मानी हुई दूरी और संसार से माना हुआ सम्वन्ध है। यह नियम है कि जिससे मानी हुई दूरी होती है उसकी अभिलाषा मिटा देने से उसकी दूरी मिट जाती है, क्योकि जातीय एकता का त्याग नही हो सकता, सिर्फ अभिलाषा के कारण दूरी प्रतीत होती है। जिससे माना हुआ सम्वन्ध होता है, उसकी चाह मिटा देने से सम्बन्ध मिट जाता है, क्योकि माने हुए सम्वन्ध से जातीय एकता नही होती। अत. दोनो प्रकार की चाह का अन्त कर देने पर किसी भी प्रकार की कमी शेष नही रहती।

क्या ईश्वर को बिना समझे-बूझे ईश्वर की भक्ति नही करनी चाहिये?

यह बात ठीक है कि बिना समझे-बूझे कोई भी कार्य नही करना चाहिये, परन्तु विषयासक्त प्राणी तो ससार को बिना समझे बूझे ही संसार में प्रवृत्त रहता है, क्योकि ससार के समझने पर, संसार से ऊपर उठने के लिये, स्वयं रुचि हो जाती है, अर्थात ससार के समझने पर ससार मे प्रवृत्ति नही रहती। जब ससार में प्रवृत्ति नही रहती और आवश्यकता शेष रहती है, तब आवश्यकता की पूर्ति के लिये जिसमें प्रवृत्ति होती है, वही ईश्वर है। प्यारे, जब एक क्रिया का अन्त होता है और दूसरी क्रिया उदय नहीं होती तब आप किसमे रहते हो? अनुभव तो करो। वही भक्तो का ईश्वर है। जिस प्रकार ससार को बिना समझे, ससार में प्रवृत्त होने पर, ससार की सत्ता प्रतीतिमात्र भासित होती है और उसी भासित सत्ता मे आसक्ति होने से ससार से भिन्न और कुछ दिखाई नही देता, उसी प्रकार ईश्वर के स्वरूप को बिना समझे भी यदि व्याकुलतापूर्वक ईश्वर की भक्ति करता है तो भक्त ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को जानने में समर्थ होता है, क्योकि भक्ति ईश्वर के स्वरूप को जानने मे साधन है। जानने पर भक्ति और भक्ति होने पर जानना स्वय हो जाता है। भक्ति का वास्तविक स्वरूप विरह का दुःख और मिलन का आनन्द है। प्यारे, विचारो तो सही, जिस प्रकार ससार को समझने पर विषय-विराग होता है और विषय-विराग मे इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की प्रवृत्ति रुक जाती है, जिससे फिर ससार की सत्ता प्रतीत नही होती, उसी प्रकार विरह से विश्वासमार्गी भक्त के बुद्धि आदि के दर्वाजे बन्द हो

जाते है और वह मिलन के आनन्द का अनुभव करने लगता है। जिस प्रकार विचार की कमी से तत्व-निष्ठा नही होती, उसी प्रकार भाव की कमी से मिलन नही होता। विचार की पूर्णता मे तत्व-निष्ठा और भाव की पूर्णता मे मिलन अपने आप हो जाता है। विश्वासमार्गी अथवा विचारमार्गी पूर्ण होने पर दोनो एक हो जाते हैं, क्योकि प्रेम अथवा ज्ञान दोनो का स्वरूप एक है। प्रेम में भी क्रिया नही होती और ज्ञान मे भी क्रिया नही होती।

विचारमार्गी का जो स्वरूप होता है, विश्वासमार्गी की वह अवस्था होती है। स्वरूप से उत्थान नही होता, अवस्था से उत्थान होता है, अर्थात् बार-बार विरह होता है। जब विरह इतना बढ जाता है कि वियोग असह्य हो जाता है, तब प्रेम-पात्र की कृपा से विश्वासमार्गी अभेद-भाव का अनुभव करता है। आवश्वकता होने के कारण विश्वासमार्गी यद्यपि ईश्वर के स्वरूप को नही जानता, किन्तु उसकी सत्ता को हृदय से स्वीकार करता है। विचारमार्गी जिज्ञासा करता है, जिज्ञासा और भक्ति इन दोनो का अर्थ स्वरूप से एक है, क्योकि दोनो ही विषय-विराग में समर्थ है। अतः बिना समझे-बूझे भी ईश्वर-भक्ति मे लाभ है, किन्तु ससार को बिना समझे उसमे प्रवृत्त होने मे हानि है।

—※—

२२ मार्च १९४१

इच्छाशक्ति की कमी किस प्रकार पूरी हो सकती है ? ऐसी कोई 'कमी' नही है जिसकी पूर्ति 'न करने से' न हो। 'न करना' सभी को प्रिय है, परन्तु अन्तर सिर्फ इतना है कि विषयी

वेचारा तो विपय-प्रवृत्ति के अन्त मे, शक्ति-हीनता मिटाने के लिये आराम करता है। आराम क्रिया नही होती, यह सभी जानते हैं। अतः इस प्रकार 'वह न करने' की शरण लेता है, परन्तु उसकी रुचि मे विपय-प्रवृत्ति विद्यमान रहती है। अत. आराम से शक्ति पाकर वह फिर विपय-प्रवृत्ति करता है। किंतु भक्त अपने को समर्पण कर 'न करने' की अवस्था को प्राप्त होता है। भक्त की रुचि मे प्रेम-पात्र का मिलन विद्यमान है, अतः समर्पण होने पर मिलन का अनुभव होता है। जिज्ञासु असगता के भाव से 'न करने' का अनुभव करता है। उसकी रुचि मे तत्व साक्षात्कार विद्यमान है, अतः 'न करने' से वह तत्व-ज्ञान का अनुभव करता है।

व्यर्थ चेष्टाओ का निरोध करने पर इच्छाशक्ति जागृत हो जाती है और अन्त में इच्छाशक्ति स्वय अपने इच्छित लक्ष्य से अभिन्न होती है।

विपयी को वार-वार इच्छाशक्ति जागृत करनी पड़ती है, क्योंकि वह उसका दुरुपयोग करता है। पर भक्त तथा जिज्ञासु को इच्छाशक्ति वार-वार जागृत नही करनी पड़ती, क्योंकि वे उसका सदुपयोग करते है।

वार-वार दुरुपयोग करने पर जव विपयी वेचारे को महान् दुःख होता है तव वह अपनी रुचि के वदलने मे समर्थ होता है।

मानव-जीवन की पराकाष्ठा क्या है? किसी प्रकार की कमी शेप न रहे, अर्थात् पूर्णता का अनुभव हो।

मानव-जीवन का आरम्भ क्या है ? अपनी कमी का अनुभव करना और उसको मिटाने का प्रयत्न करना, यही मानव-जीवन का आरम्भ है ।

कमी का अनुभव करने से क्या लाभ होता है ? गहराई से देखो, सबसे बडा दु ख कब होता है ? जब व्यक्ति अपनी दृष्टि से अपने मे कमी का अनुभव करता है, तब सबसे बडा दु ख होता है । यह नियम है कि अत्यन्त दु ख होने पर दु:खी अपनी वर्त्तमान परिस्थिति से ऊपर उठ जाता है, अर्थात् उसे बदल देता है और फिर उस कमी को मिटाने मे समर्थ होता है। अत: उन्नतिशील मानव को प्रथम कमी का अनुभव करना आवश्यक है। यदि कमी का अनुभव कर मिटाने का प्रयत्न न किया तब भी मानवता नही कही जा सकती, क्योकि मानवता व्यक्ति नही है, बल्कि जीवन की एक अवस्था है, जो उन्नति के लिये एकमात्र सर्वोत्तम अवस्था है ।

मानवता कब तक रहती है ? जीवित वही अवस्था रहती है जो पूर्ण नही होती। पूर्ण मानवता होने पर मानवता का अन्त हो जाता है, अर्थात् 'पूर्ण' से अभिन्न हो जाती है, जो मानव की वास्तवविक रुचि है ।

क्या पूर्णता जीवन मे ही मिल सकती है ? यदि जीवन मे ही पूर्णता न मिले तो जीवन का मूल्य ही कुछ नही । यदि जीवन मे ही पूर्णता न मिल सके तो पूर्णता सिर्फ कल्पना-मात्र होगी। पूर्णता जीवन मे ही मिल सकती है, इसमे लेशमात्र भी सन्देह नही है। गहराई से देखो, जो चाह किसी प्रकार मिटाई नही जा सकती उसका पूर्ण होना परम अनिवार्य है ।

कमी का रहना किसी को प्रिय नही, अत. कमी का अन्त करने के लिये ही जीवन मिला है ।

मानव जीवन मे वे सभी साधन विद्यमान है जिनसे कि जीवन मे ही जीवन की पूर्णता का अनुभव हो सकता है, परन्तु बाह्य रंगो से अपने को रंग लेने से वे छिप-से जाते है । व्याकुलता के प्रभाव मे वाह्य रग धुल जाते हैं। क्या व्याकुलता प्रत्येक मानव में नही ? अर्थात् सभी मे है। जो पूर्णता के लिए व्याकुल होता है वही उसे अनुभव करता है । जिस प्रकार सभी मिठाइयो में मिठास चीनी की होती है, उसी प्रकार सभी साधनो में प्रधानता व्याकुलता की होती है । पूर्णता की निराशा-पापिनी व्याकुलता को दबा देती है, मिटा तो पाती नही । अतः इस पापिनी को जीवन में मत आने दो । दबी हुई व्याकुलता वार-बार उत्पन्न होती है, अतः उसको पूर्ण कर दो। व्याकुलना के सभी ऋणी है, क्योकि वह पूर्ण करने पर ही साथ छोडती है । अतः व्याकुलता का कोई भी प्रत्युपकार नही कर पाता। जीवन में व्याकुलता के समान कोई भी हितैषी मित्र नही है। अत उस परम हितैषी मित्र का आदर करो, हृदय मे स्थान दो, जीवन का अ ग बनाओ । वह आपका पूर्णता से अभेद करने में समर्थ है । व्याकुलता-रहित जीवन बेकार है ।

क्या मृत्यु होने पर पूर्णता नहीं मिल जाती ?

गहराई से देखो, जिसको आप मृत्यु कहते हैं, वह तो नवीन जीवन को उत्पन्न करने के लिये एक विशेष अवस्था है । जीवन की परिस्थिति को देखो, क्या है ? कुछ इच्छाए' पूर्ण हो चुकी हैं, कुछ इच्छाओ को पूर्ण करने के लिये प्रयत्न कर

रहे हो, और कुछ इच्छाएँ जमा हैं। इसके सिवाय वर्तमान जीवन और कुछ नही। जब जीवन की क्रिया-शक्ति क्षीण हो जाती है और इच्छाएँ शेष रहती है, तब प्रकृति-माता क्रिया-शक्ति, प्रदान करने को कुछ काल के लिये अपने मे विलीन कर लेती हैं और फिर नवीन जीवन देती है। जब तक इच्छाए बनी रहती है तब तक जीवन की सभी अवस्थाएँ बार-बार होती रहती हैं। जीवन का सदुपयोग करने पर इच्छाओ का जीवन मे ही अन्त हो जाता है। बस, उसी काल मे जीवन मे ही पूर्णता अनुभव होती है, मृत्यु होने पर नही। मृत्यु तो सिर्फ प्राणी को नवीन जीवन देने मे समर्थ होती है, पूर्णता देने मे नही। पूर्णता का अभिलाषी तो जीवन मे ही पूर्णता का अनुभव करता है, अर्थात् पूर्णता का सम्बन्ध तो वर्तमान जीवन से ही है।

मन के निरोध का उपाय क्या है ? आवश्यक कार्य को पूरा करने और अनावश्यक कार्यों का त्याग करने पर मन का निरोध अपने आप हो जाता है। यदि यह नही कर सकते तो फिर ऐसा करो कि अपने माने हुए अह को जो शरीर-भाव से मिला दिया है उसको बदल दो—यदि भाव की प्रधानता हो तो 'मैं भक्त हूँ, शरीर नही'। यदि विचार की प्रधानता हो तो 'मै जिज्ञासु हूँ, शरीर नही'। यह दोनो प्रकार के अहं अधिकारी भेद से आदरणीय हैं। अहं के बदलने से कियाएँ बदल जाती हैं। माने हुए अहं के मिटने से कियाएँ मिट जाती है। 'मैं जिज्ञासु हूँ' यह अह उसी समय तक जीवित रहता है जब तक कि जिज्ञासा पूर्ण नही होती। 'मैं भक्त हूँ' यह अह उसी समय तक जीवित रहता है जब तक भक्ति पूर्ण नही होती। अहं के अनुसार जीवन होने पर ही अह की पूर्णता होती है, अर्थात् माने हुए अहं

का अन्त हो जाता है। भक्त भगवान् तथा जिज्ञासु तत्वज्ञ हो जाता है, इसमे किसी प्रकार का संदेह नही।

क्या निवृत्ति मार्ग-वाले भक्त तथा जिज्ञासुओ से संसार को कुछ भी लाभ नहीं, क्या वे केवल अपने स्वार्थ में ही लगे रहते हैं ?

गहराई से देखो, जीवन की आवश्यकता क्या है ? प्रत्येक मानव मे क्रिया, भाव तथा ज्ञान तीनो प्रकार की शक्ति विद्यमान है। क्रिया शक्ति की आसक्ति उसी-समय तक रहती है, जब तक विषयो से पूर्ण विराग नही होता। विषय-विराग होते ही क्रिया-जन्य रस का कुछ भी मूल्य नही रह जाता। जो प्राणी विषयो मे आसक्त है उनको उन्नति की ओर जाने के लिये विश्व की बाह्य क्रियाओ से सेवा करना परम आवश्यक है, क्योकि जो दूसरो के दु.ख से दुखी नही होता वह अपने निजी दु ख से बच नही सकता, क्योकि विश्व स्वरूप से एक जीवन है। दुखियो के होते हुए दु ख न हो, यह सर्वदा असम्भव है, अत. विश्व के साथ एकता का भाव करना आवश्यक है। परन्तु जब हम केवल शरीर-जन्य व्यापार अर्थात् इन्द्रियो की क्रियाओ से दुखियो का दु ख मिटाने मे सफल नही हो पाते, तब इन्द्रियो की क्रियाओ से ऊपर आने के लिये मजबूर हो जाते हैं और फिर भाव की पवित्रता से दुखियो के भाव को पवित्र करने मे लग जाते हैं। परन्तु भाव ज्ञान के अनुसार ही होते हैं। अत. यथार्थ ज्ञान के बिना पूर्ण पवित्र भाव नही हो सकते और भाव की पवित्रता के बिना क्रिया मे पवित्रता नही आ सकती। अपना तथा दूसरो का सुधार करने के लिये पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान के अनुसार भाव और भाव के अनुसार क्रिया स्वाभाविक हो जाती है। ज्ञान की पूर्णता होने पर भाव और क्रिया बंधन मे नही डाल सकते। जिस प्रकार

सूर्य से अनन्त आँखे देखती हैं, किन्तु सूर्य को यह अभिमान नही होता कि मैं दिखलाता हूँ, अथवा फूल के खिलने से स्वय गध फैलती है, परन्तु बेचारा फूल यह प्रकट नही करता कि मैं गध फैलाता हूँ, उसी प्रकार तत्ववेत्ताओ से अथवा परम भक्तो मे विश्व का कल्याण स्वयं होता है। अन्तर सिर्फ यही होता है कि विश्व उनको नहीं जान पाता कि ये हमारा कल्याण कर रहे है, अर्थात् वे भौतिक दृष्टि से 'लीडर' के रूप मे नही दिखाई देते। प्यारे, गहराई से देखो, हाथ पैर द्वारा पानी खीच कर कितनी जमीन छिड़क सकते हो, अधिक से अधिक बीघा दो बीघा, किन्तु बादल बनकर कितनी छिडक सकते हो ? यह भली प्रकार समझ लो कि जो स्थूल होता है वह परिच्छन्न अर्थात् सीमित होता है और जो सूक्ष्म होता है वह विभु होता है। क्रिया से भाव सूक्ष्म है और भाव से ज्ञान सूक्ष्म है। क्या आज मीरा, सूरदास, तुलसीदास अनेक भक्तो का कल्याण नही कर रहे है और क्या तत्ववेत्ता भगवान् शकर, बुद्ध आदि भी अनेक जिज्ञासुओ का कल्याण नही कर रहे हैं ! जिज्ञासा अथवा भक्ति भी तो जीवन की आवश्यक वस्तु है। क्या यह किसी प्रकार जीवन से मिट सकती है ? तो फिर कैसे कहा जा सकता है कि भक्तो तथा तत्ववेत्ताओ से संसार का कल्याण नही होता ? यह तो बताओ, कही बुराइयो की भी पाठशालाएँ खोली जाती हैं ? बुराइयाँ तो अधिकतर छिप कर ही की जाती है, किन्तु समाज मे अपने आप फैल जाती है, तो क्या तत्ववेत्ताओ का तत्वचिन्तन बुराइयो के समान भी शक्ति नही रखता ? प्यारे, स्थूल शरीर के अभिमान के कारण साधारण प्राणी सूक्ष्म सेवा को देख नही पाते, यह उनकी दृष्टि की कमी है। जो अपना कल्याण

नही कर सकता वह विश्व-कल्याण किसी प्रकार भी नही कर सकता। अपना कल्याण ही विश्व का कल्याण है, और विश्व का कल्याण ही अपना कल्याण है, क्योकि दोनो की स्वरूप मे एकता है। व्यक्ति का अभिमान लेकर उतना सुधार नही कर सकते जितना विश्व का अभिमान लेकर विश्व का सुधार कर सकते हो। विश्व के साथ सच्ची एकता अनुभव करने के लिये वाह्य-प्रवृत्ति का त्याग अनिवार्य है, तो फिर निवृत्ति-मार्ग व्यर्थ कैसे हो सकता है ? समाज के सभी वड़े-वड़े सुधारक वे ही हुए है जिनके जीदन मे निवृत्ति प्रधान थी। जव प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त होता है, तव आप स्थायी प्रवृत्ति के लिये कैसे कह सकते हैं ? विचार-दृष्टि से तो दूसरे के सुधार की धूम केवल कथनमात्र है। जो अपने को जितना वड़ा अनुभव करता है वह उतना ही अधिक सुधार करता है, अर्थात् अपना ही सुधार करता है। हिंदू लीडर 'मै हिंदू हूँ' मुसलमान लीडर 'मैं मुसलमान हूँ' यह अपने को मान कर सुधार करते है, अर्थात् अपने को व्यक्ति से समाज मे परिणित कर देते हैं। समाज का दुःख ही उनका दुःख है। वे वेचारे निरन्तर अपना दुःख मिटाने के लिये प्रयत्न करते हैं। यह वात सिर्फ देखने मात्र है कि वे दूसरो का सुधार करते हैं। जो नेता अपने को मानव मानते है, वे विश्व के मानव के साथ अपने को अभेद करते है। यद्यपि वे वेचारे सामाजिक सकीर्ण क्षेत्र के नेताओ से अवश्य महान हो जाते है, परन्तु तत्ववेत्ताओ से तो अल्प ही रहते हैं, क्योकि तत्ववेत्ता तो विश्व को अपना स्वरूप जान कर, केवल मान कर नही, अपना कल्याण करता है। अत. तत्ववेत्ताओ से ही सम्पूर्ण विश्व का कल्याण हो

सकता है। तत्ववित् होने के लिए निवृत्ति परम आवश्यक है । निवृत्ति की तैयारी के लिए सेवा-भाव अर्थात् दुखियो के दु ख से दु खी होना अनिवार्य है, क्योकि जिसका हृदय दुखियो के दु ख से हरा-भरा नही रहता वह विषयो की आसक्ति त्यागने मे असमर्थ है। अत. दुखियो की सेवा का फल विषय-विराग है, विषय-विराग होने पर भक्त तथा जिज्ञासु का जीवन आरम्भ होता है।

जीव और ईश्वर का क्या सम्बन्ध है और जीव को ईश्वर की उपासना कैसे करनी चाहिए ?

जीव और ईश्वर अ ंग और अ गी के समान है। जब जीव अपनी अल्पज्ञ और ईश्वर की सर्वज्ञ सत्ता स्वीकार करता है, तब उपासना करने की रुचि उत्पन्न होती है, क्योकि अल्पज्ञ हमेशा सर्वज्ञ होने के लिए प्रयत्न करती है।

उपासना अपने से भिन्न किसी प्रतीक मे, जो अपनी रुचि के अनुसार हो, सर्वोत्कृष्ट भाव स्थापित करना है, अर्थात् जो अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न है, उसमे अपने भाव के अनुसार अपने को समर्पण कर देना अथवा तन्मय कर देना ही उपासना है। परन्तु जिसको किसी भी प्रतीक मे रुचि न हो उसको अपने मे ही ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न सर्वोत्कृष्ट तत्व की स्थापना कर उसकी रजा में राजी रहने का अभ्यास करना अथवा अपने माने हुए अहभाव को समर्पण कर देना उपासना है। उपासना का वास्तविक तत्व यह है कि उपास्यदेव से भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है उसका अभाव हो जाय, अथवा उपास्यदेव से भिन्न और किसी की सत्ता शेष न रहे ।

जो स्वरूप ध्यान में दिखाई देता है क्या उसमे बात-चीत हो सकती है ? गहराई से देखो, यदि वह स्वरूप केवल ध्यान-जन्य क्रिया के आधार पर ही प्रतीत हुआ है तव तो ध्यान-जन्य रस आ सकता है और कुछ नही, परन्तु यदि भाव की प्रवलता से स्वरूप का प्राकट्य हुआ है, तभी तो भाव के अनुसार वातचीत हो सकती है, क्योकि कुछ सज्जन चित्त के निरोधमात्र के लिये ही ध्यान करते है, भाव की कमी होती है। भाव के बिना भगवत्-लीलाओ का साक्षात्कार नही हो सकता। भाव में सद्भाव, माने हुए देहभाव के मिटने पर होता है और भाव का सद्भाव होने पर प्रेम या विरह अथवा मिलन का आनन्द अवश्य होता है।

स्मरण करने से क्या लाभ है ? नाम तथा मन्त्रादि का जप करने से नामी की सत्ता की स्वीकृति हो जाती है और यह नियम है कि सद्भावपूवक सत्ता की स्वीकृति होने पर सद्भावपूर्वक सम्बन्ध हो जाता है, तथा सम्बन्ध होते ही प्रेमपात्र का विरह उत्पन्न होता है।

सब सन्देह दूर कव हो जाते हैं ? यह (ससार), वह (परमात्मा) और मैं इन तीनो का यथार्थ ज्ञान होने पर सभी सन्देह निवृत्त हो जाते हैं।

यथार्थ ज्ञान कैसे हो ? इन तीनो मे से किसी एक का यथार्थ ज्ञान होने पर तीनोका यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

'मै' का यथार्थ ज्ञान कैसे होगा ? जिन चीजो को अपने में रख लिया है, उनको निकाल दो और जिन चीजो मे अपने को रख दिया है उनसे अपने को हटालो, ऐसा होते ही 'मै' का यथार्थ ज्ञान हो जायगा।

संसार का ज्ञान कैसे हो ? संसार के जानने मे वही समर्थ हो सकता है जो अपने को ससार से ऊपर उठा लेता है क्योकि जिससे माना हुआ सम्बन्ध होता है उससे असग होने पर ही उसका यथार्थ ज्ञान हो सकता है। संसार से माना हुआ सम्बन्ध है, जातीय नही।

परमात्मा का ज्ञान कैसे हो ? जिन चीजो से माना हुआ सम्बन्ध होता है उनसे यदि अपने को हटा लिया जाय तो उन चीजो का ज्ञान हो जाता है, परन्तु जिससे जातीय सम्बन्ध होता है उससे अपने को अभिन्न कर देने पर उसका ज्ञान होता है। परमात्मा से माना हुआ सम्बन्ध नही है, बल्कि जातीय सम्बन्ध है। सिर्फ मानी हुई दूरी है जो अभेद-भाव से मिट जाती है, अर्थात् परमात्मा से अभिन्न होकर ही परमात्मा का पूर्ण ज्ञान हो सकता है।

सद्भाव होने पर भी यदि प्रेम-पात्र का मिलन नहीं होता तो क्या करना चाहिये ? गहराई से देखो, सद्भावपूर्वक सम्बन्ध होने पर प्रेमी को कुछ भी करना शेष नही रहता है, फिर तो प्रेम-पात्र की ओर से कर्तव्य-शेष रहता है। यदि वे नही आते तो न आये। अब हम उनके सिवाय किसी और को देखेगे नही, ऐसी दृढ़ता प्रेमी को स्थायी भाव से रखनी चाहिये। वे इसलिए नही आते कि वियोग से ही प्रीति रस की दृढता होती है। जिस काल मे प्रीति रसपूर्ण हो जाती है, उसी काल मे प्रेमी की रुचि के अनुसार प्रेम-पात्र का प्राकटय होता है। प्रेमी को प्रेम-पात्र के प्रभाव मे तनिक भी सन्देह नही करना चाहिये। वे दुःखहारी हैं, भयहारी हैं, फिर भला कैसे नही आवेंगे ? जब कोई भी दु.ख हमेशा नही रहता तब भला

उनके न मिलने का दु ख हमेशा कैसे रह सकता है ? अर्थात् वे आने के लिए मजबूर हो जायेंगे। जिस प्रकार फाँसी का कैदी सभी सजाओ से छूट जाता है, उसी प्रकार सद्भावपूर्वक समर्पण करने वाला 'करने' से छूट जाता है। प्रेम-पात्र ऐस प्रेमी का ध्यान करते हैं, आते है अथवा उससे प्रेम करते है। प्रेमी मे कुछ करने की शक्ति नही रहती। करने की शक्ति शेप रहना प्रेमी की कमी है। करना तब तक है जब तक करने की शक्ति हो। प्रेम की पूर्णता होने पर करने की शक्ति शेप नही रहती, अर्थात् मिट जाती है।

योग का फल क्या है ? योग रुचि की पूर्ति के लिए कल्पतरु के समान है, अर्थात् जिस भाव से योग किया जाता है, वही प्राप्त हो जाता है। यही योग का फल है।

सृष्टि का अन्त कब होता है ? मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति होने पर तत्व-दृष्टि, और भाव का सद्भाव होने पर भक्त दृष्टि होती है। तत्व-दृष्टि तत्व मे से भिन्न कुछ नही भासता और भक्त-दृष्टि मे प्रेम-पात्र से भिन्न कुछ नही दिखाई देता। तत्व दृष्टि और भक्ति-दृष्टि दोनो मे ही सृष्टि का अन्त हो जाता है। सृष्टि केवल अपने मे विपयादिक-भाव को धारण करने से प्रतीत होती है। विषयासक्त बेचारा मानी हुई सत्ता को स्वीकार करता है, अतः यही सृष्टि के प्रतीत होने का कारण है। कारण का नाश होने पर कार्य का नाश अपने-आप हो जाता है। अतः विपय-जन्य स्वभाव का अन्त होने पर सृष्टि का अन्त हो जाता है।

तुरीयावस्था क्या है ? यदि तुरीयावस्था का अनुभव करना चाहते हो तो अपने को जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनो

अवस्थाओ से असग कर लो। गहराई से देखो, तीनो अवस्थाये जागृत मे भी होती हैं। स्थूल शरीर आदि द्वारा जो अनुभव करते हो वह जागृत है, कारण और सूक्ष्म शरीर द्वारा जो अनुभव करते हो वह स्वप्न है, सिफ कारण शरीर द्वारा जो अनुभव करते हो वह सुषुप्ति है। तुरीया का अनुभव शरीर द्वारा नही कर सकते। तीनो शरीरो से असग होने पर तुरीयावस्था का अनुभव होता है।

हम तीनों शरीरों से असंग कैसे हो सकते है ? यदि तीनो शरीरो से असंग होना चाहते हो तो प्रथम जागृत अवस्था से अर्थात् इन्द्रिय-विपयो से सम्वन्ध विच्छेद करो और फिर मन आदि से भी किसी विषय का चिन्तन मत करो, अर्थात् अचिंत हो जाओ। अचिंत होते ही निर्विकल्प स्थिति अर्थात् जागृत मे ही सुपुप्ति हो जायगी। इस निर्विकल्प स्थिति से भी असग होने पर निर्विकल्प वोध स्वयं होगा जो तीनो शरीरो से असग करने मे समथ है। अत निर्विकल्प बोध होने पर ही तीनो शरीरो से असगता प्राप्त होगी।

वर्तमान युद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से क्या अर्थ रखता है ? राष्ट्र अथवा समाज अथवा व्यक्ति विषयासक्ति के कारण उस सुख को स्वीकार करता है जो किसी का दु.ख होता है (अर्थात् किसी को दु ख देकर सुख लेता है)। गहराई से देखो तो सही, जिस सुख का जन्म ही दु ख से हुआ है वह अन्त मे महादु ख के सिवाय और क्या होगा ? राष्ट्रादि मे स्वार्थभाव उत्पन्न होते ही उसकी विरोधी सत्ता प्रथम बेचारी दुखियों के मन मे संकलपरूप से उत्पन्न होती है। पशु-बल के अभिमानी राष्ट्र आदि तो उन दुखियो के संकल्प की

ओर देखने वाली दृष्टि वन्द कर लेते हैं, परन्तु प्रकृति-माता तो प्रत्येक संकल्प की पूर्ति करने मे निरन्तर लगी रहती है । अतः उन्ही दुखियो के सकल्प से पशु-वल के अभिमानी राष्ट्र, समाज तथा व्यक्तियो को मिटाने के लिये शक्ति उत्पन्न हो जाती है । वस यही वर्तमान युद्ध का कारण है ।

२४ मार्च १९४१

क्या शरीर को अमरत्व प्राप्त हो सकता है ?

जिसको अमरत्व की अभिलाषा होती है उसको अमरत्व प्राप्त होता है । गहराई से देखो, दो प्रकार की इच्छाएं मानव-जीवन में दिखाई देती है । भोग की चाह के लिये शरीर आदि मिले हैं और अमरत्व की अभिलाषा भी है जो किसी प्रकार मिटायी नही जा सकती । जिस काल में अमरत्व की पूर्ण अभिलाषा जागृत हो जाती है, अर्थात् भोग की चाह मिट जाती है, तव अमरत्व की अभिलाषा पूर्ण होने में समर्थ होती है । भोग की चाह मिटते ही विषय इन्द्रियो मे, इन्द्रिय मन में, मन वुद्धि मे, वुद्धि अहं में, और अह अमरत्व की अभिलाषा में विलीन हो अमरत्व से अभिन्न हो जाता है, क्योकि प्रत्येक अभिलाषा अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाती है । इस दृष्टि से सभी अमरत्व को प्राप्त कर सकते हैं ।

दुःख किसमें होता है ?

गहराई से देखो, जव आप स्वीकार करते हैं कि जड को दुःख नही होता और चेतन को भी दुःखनही होता तथा जड़-चेतन का मेल भी नही होता तो फिर दुःख किसको होता है ? दुःख उसको होता है जो न तो जड़ है और न चेतन है, परन्तु जो जड़ से

मिलकर जड़-सा और चेतन से मिल कर चेतन सा हो जाता है, अर्थात् वह अहं जो अपनी स्वतन्त्र सत्ता नही रखता बल्कि अपने में किसी प्रकार के माने हुए स्वभाव को स्वीकार कर लेता है। उस स्वभाव की अनुकूलता मे सुख और प्रतिकूलता मे दु ख का अनुभव करता है। अथवा यो कहो कि दु.ख उसको होता है जिसको सुख होता है, क्योकि सुख से ही दु ख का जन्म होता है। जो अह अपनी स्वतंत्र सत्ता नही रखता बल्कि किसी माने हुए स्वभाव के आधार पर जीवित है, वह स्वरूप से न तो जड़ है न चेतन। जिस प्रकार भोक्ता न जड़ है न चेतन, उसी प्रकार सुख तथा दुःख न जड़ है न चेतन।

वास्तव में द्वैत है या अद्वैत ? जब तक चाह है तक तक द्वैत प्रतीत होता है, चाह का अन्त होने पर अद्वैत ही शेष रहता है। चाह की उत्पत्ति ही अन्त होने के लिये होती है।

हमने कोई व्यक्ति तत्वज्ञ नहीं देखा तत्व-ज्ञान केवल कल्पनामात्र है। यदि तत्व-ज्ञान कल्पना मात्र है तो तत्व क्या है ? यदि तत्व नही बता सकते तो फिर तत्व-ज्ञान कल्पना कैसे है, यह कथन ही निरर्थक है। तत्वज्ञ व्यक्ति नही है इसमे कोई सन्देह नही, वह तो निज स्वरूप है जिसे जिज्ञासु अनुभव करते हैं, व्यक्ति नही। जिस प्रकार भक्त ही भगवान् का साक्षात्कार करते हैं, उसी प्रकार जिज्ञासु ही तत्व का अनुभव करते है। व्यक्ति-भाव तो भक्त अथवा जिज्ञासु का भाव आने पर ही निर्मूल हो जाता है। प्यारे, यह नियम है कि एक वस्तु मिटने पर ही दूसरी वस्तु बनती है। व्यक्ति-भाव मिट कर जिज्ञासु-भाव और जिज्ञासु-भाव मिटकर तत्ववित् होता है। अतः तत्ववित्

होकर ही तत्व को जान सकोगे और किसी प्रकार नही।

हमारे लिए कौन-सा साधन उपयुक्त है? सब प्रकार की चाह का अन्त कर देना ही सर्वोत्तम साधन है। यदि यह नही कर सकते तो चाह होते हुए चैन मे न रहना ही साधन है, क्योकि बेचैनी ही चाह की पूर्ति मे समर्थ है। यदि जीवन मे व्याकुलता की कमी हो, अर्थात् चाह होते हुए भी चैन मालूम हो तो दुखियो का पूजन करो, आदर करो और यथाशक्ति सेवा करो, जिससे वे व्याकुलता प्रदान करे, जो उन्नति का मूल है।

प्रवृत्ति श्रेष्ठ है या निवृत्ति? पूर्ण निवृत्ति होने पर पूर्ण प्रवृत्ति होने पर और पूर्ण प्रवृत्ति होने पर पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। परन्तु पूर्ण निवृत्ति से उत्पन्न होने वाली प्रवृत्ति का प्रभाव कर्त्ता पर कुछ नही होता, अर्थात् प्रवृत्ति उस पर शासन नही कर पाती, क्योकि सब उसके हो जाते है, वह किसी का नही होता।

पूर्ण प्रवृत्ति होने पर स्वार्थ भाव अर्थात् विषयासक्ति का अन्त हो जाता है। विषयासक्ति का अन्त होते ही प्रवृत्ति स्वयं निवृत्ति मे बदल जाती है। अपूर्ण प्रवृत्ति हो अथवा निवृत्ति परन्तु पूर्ण होनी चाहिए, टुकडो की निवृत्ति तथा प्रवृत्ति कुछ मूल्य नही रखती।

जिसका जीवन दूसरों की पूर्ति के लिए होता है वही पूर्ण प्रवृत्ति कर सकता है। जो वीतराग होता है, वही पूर्ण निवृत्ति कर सकता है। अत. पूर्ण प्रवृत्ति तथा पूर्ण निवृत्ति दोनो का अर्थ एक है। पूर्ण होने पर दोनो ही श्रेष्ठ है, परन्तु साधनकाल में प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति अधिक स्वाभाविक है, क्योकि

निवृत्ति के लिए बाह्य सगठन की आवश्यकता नही होती । प्यारे, जीवन मे दु ख की मात्रा बढ जाने पर निवृत्ति सुगम है और सुख की मात्रा बढ जाने पर प्रवृत्ति सुगम है । श्रेष्ठता का कथन अधिकारी के प्रति होता है । वास्तव मे तो पूर्णता सभी की श्रेष्ठ है ।

क्या व्यक्ति भाव से उपासना करने में कोई हानि है ? गहराई से देखो, उपासना करने की आवश्यकता क्यो हुई ? जब उपासक अपने मे असमर्थता पाता है, तब वह पूर्ण समर्थ की उपासना करने के लिए रुचि होती है । जब ज्ञान की कमी पाता है तब अनन्त ज्ञान की उपासना की रुचि होती है, अथवा यो कहो कि जिन-जिन गुणो की आवश्यकता होती है, उन्ही गुणो को पूर्ण करने के लिए सर्वगुण-सम्पन्न उपास्य की खोज होती है । उपासना अपनी रुचि की होती है, व्यक्ति की नही । व्यक्ति द्वारा उपासना करने का अर्थ यही होता है कि अपने व्यक्तित्व को जीवित रखने का लालच है अथवा यो कहो कि अपने व्यक्तितत्व की रक्षा करने के लिए सर्वोत्कृष्ट तत्व मे भी व्यक्तित्व-भाव मान लेते हैं । वास्तविक उपासना की पूर्णता तब होती है जब अपने व्यक्तित्व को मिटा दिया जाय । उपासना पूर्ण होने पर व्यक्तित्व शेष नही रहता । यदि व्यक्तित्व शेष रहे तो उपासना से लाभ ही क्या ? क्योकि व्यक्तित्व तो था ही । उपासना तो उसकी करनी है जो सब प्रकार से समर्थ और दयालु हो । कोई भी व्यक्ति सब प्रकार से समर्थ तथा परम दयालु नही हो सकता । गहराई से देखो, कोई भी राजा 'राजा' नही बना पाता, परन्तु जो व्यक्तित्व से परे है, वे सबको अपने से अभिन्न कर लेते हैं । वे इन्कार करना नही

जानते, क्योकि सव प्रकार से समर्थ हैं। अत. उन्ही की उपासना करनी चाहिये जो व्यक्ति-भाव से अतीत हैं। प्यारे, उपास्य मे मे व्यक्ति-भाव स्वीकार करना परम भूल है। उपास्य के नाम रूप की कल्पना तो केवल शार्टहैन्ड के चिन्ह के समान है। विचारशील उपासक नाम-रूप मे भी व्यक्ति-भाव नही देखते।

सच्ची दीक्षा क्या है ? जो सव प्रकार समर्थ तथा परम दयालु है, उनसे सद्भावपूर्वक सम्बन्ध स्थापित करना ही सच्ची दीक्षा है। वही ज्ञान की आवश्यकता के लिये गुरु-भाव से प्रकट होते है।

गुरु क्या करता है और शिष्य क्या करता है ? शिष्य प्यार करता है और गुरु प्रेम करता है। प्यार और प्रेम मे यही अन्तर है कि प्यार दूसरे से और प्रेम अपने से होता है। गुरु की दृष्टि मे शिष्य की सत्ता अपने से भिन्न नही होती अतः वह प्रेम करता है। अपना सव कुछ दे देना प्यार और अपने को दे देना प्रेम है। अतः शिष्य गुरु के प्रेम से गुरु हो जाता है। कामना-युक्त व्यक्ति प्रेम नही कर सकता। शिष्य कामना-युक्त होता है, गुरु कामना रहित होता है। कामना रहित व्यक्ति नही होता, अत· गुरु मे भूलकर भी व्यक्ति-भाव नही करना चाहिये।

—*—

२५ मार्च १९४१

आप्तकाम किसको कहते हैं ? जो पूर्णत. चाह-रहित हो। जो भोग और मोक्ष दोनो की कामना से रहित हो, वे आप्तकाम होते है।

आत्मवित् किस प्रकार हो सकता है ? जब तक माना हुआ सीमित अहंभाव जीवित है, तब तक आत्मवित् नही हो सकता । अत सीमित अहंभाव का अन्त करने पर ही आत्मवित् हो सकता है ।

अज्ञान क्या है ? मानी हुई सत्ता की स्वीकृति ही अज्ञान है ।

ज्ञान क्या है ? मानी हुई सत्ता का अभाव होने पर जो शेष रहता है वही तत्व-ज्ञान है ।

विज्ञान क्या है ? तत्वज्ञानपूर्वक निष्ठा ही विज्ञान है ।

मोक्ष क्या है ? मानी हुई सत्ता का शासन स्वीकार करना ही बन्धन है । उसके विपरीत मोक्ष है ।

मोक्ष प्राप्ति का साधन क्या है ? त्याग, क्योकि त्याग से मानी हुई सत्ता का शासन नही रहता ।

कार्य मे सफलता कब होती है ? हृदय और दिमाग की एकता होने पर कार्य में सफलता होती है, क्योकि कार्य करते हुए सफलता न होने का कारण हृदय और दिमाग की लडाई ही है ।

गुरु तत्व क्या है ? गुरु वह तत्व है जो जिज्ञासु की पूर्ति के लिये अनेक प्रकार से प्रकट होता है । अत. गुरु मे शरीर-भाव नही रखना चाहिये । जिस प्रकार निर्गुण ब्रह्मभक्त की रुचि की पूर्ति के लिये लीला-मात्र सगुण विग्रह स्वीकार कर लेता है उसी प्रकार गुरु-तत्व जिज्ञासु की पूर्ति के लिये लीला-मात्र शरीर-भाव धारण कर लेता है । वास्तव मे तो गुरु-तत्व तथा पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्दघन मे लेश-मात्र भी भेद नही है ।

ध्यान कैसे करना चाहिये ? ध्यान किया नही जाता बल्कि हो जाता है, क्योकि जिसका ज्ञान नही होता उसका ध्यान

भी नही हो सकता। अतः उसकी खोज करो जिसका ध्यान करना है। उसकी खोज करने के लिए ध्यान-कर्त्ता को उन सभी वस्तुओ का त्याग करना होगा जिनके बिना वह किसी प्रकार भी रह सकता है। जिसके बिना किसी प्रकार नही रह सकता उसका ज्ञान होते ही ध्यान अपने आप हो जायगा।

आत्म-हनन क्या है? अपने को शरीर-भाव आदि कल्पनाओ में बाँध लेना ही आत्म-हनन है, अथवा यो कहो कि अपने को जिस कल्पना मे बॉध लिया हो उसके विपरीत क्रिया करना ही व्यावहारिक आत्म-हनन है। प्रथम आत्म-हनन तत्व-दृष्टि से है और दूसरा व्यवहार-दृष्टि से।

—※—

२६ मार्च १९४१

सन्त-वाणी

विषयो का रस तीन प्रकार का है—

(१) इन्द्रिय-जन्य—इसमे परतन्त्रता सबसे अधिक और स्थिरता सबसे कम है।

(२) भाव-जन्य—यह यद्यपि इन्द्रिय-जन्य रस की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है तथा उससे स्थायी भी अधिक है, किन्तु भावावेश के कारण समाधि-जन्य रस से कम है।

(३) समाधि-जन्य—यह भाव-जन्य रस की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है, क्योकि समाधि मे अनेक भाव एक ही भाव मे विलीन हो जाते हैं, परन्तु समाधि-जन्य रस का भी उत्थान होता है। अत वह भी नित्य-रस नही है। सविकल्प समाधि मे बुद्धि कार्य मे सम होती है और

निर्विकल्प समाधि मे कारण मे । कारण कार्य की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है । इसी कारण निर्विकल्प समाधि मे सविकल्प समाधि की अपेक्षा अधिक रस है । अनित्य रसो मे निर्विकल्प समाधि का रस सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु जिज्ञासु को तो सभी अनित्य रसो का त्याग करना है । अनित्य रसो का त्याग करना ही विषय-विराग तथा पूर्ण जिज्ञासा है । पूण जिज्ञासा होने पर तत्व-ज्ञान स्वय हो जाता है । तत्व-ज्ञानपूर्वक तत्व-निष्ठा होने पर शक्ति तथा शान्ति प्राप्त होती है । ज्ञान-रहित निष्ठा अर्थात् केवल समाधि से तो सिर्फ शक्ति आती है । फिर यदि शक्ति का सदुपयोग नही किया जाय, तो वह मिट जाती है । शक्ति का सदुपयोग करने के लिए हृदय की निर्मलता परम आवश्यक है, जो केवल विपय-विराग से ही हो सकती है ।

साधन की प्रारंभिक अवस्था में किन २ गुणो की आवश्यकता है ?

साधक को चाहिये कि वह अपनी सभी आवश्यक प्रवृत्तियो में, जिनका कि वह त्याग नही कर सकता तथा जिन-जिन में उसको प्रवृत्त होना हो, पूर्ति के भाव से प्रवृत्त हो, अपनी पूर्ति के लिए नही, अर्थात् भोक्ता उन्नति तब कर सकता है, जब वह अपना मूल्य भोग से अधिक बना ले । भोक्ता को यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि भोग का सौन्दर्य भी भोक्ता के विना कुछ मूल्य नही रखता । आदर्श भोक्ता वही है जिसकी भोग प्रतीक्षा करता है । भोग की प्रतीक्षा करने वाला भोक्ता तो बीमार है, अतः वह बेचारा भोग करने में असमर्थ है, उसका तो भोग ही भोग कर लेते हैं ।

साधक को आगे पीछे का व्यर्थ-चिंतन क्यो होता है ? कार्य-कुशलता न होने से तथा आस्तिकता की कमी से आगे-पीछे का व्यर्थ-चिंतन होता है।

कार्यकुशलता क्या है ? (१) जिस कार्य मे प्रवृत्त हो उसको इतनी सुन्दरतापूर्वक करना चाहिये कि वह कार्य स्वय कार्य-कर्त्ता की प्रतीक्षा करे, अर्थात् कर्त्ता को करते समय अपनी पूरी शक्ति लगा देनी चाहिये।

(२) भाव की पवित्रता हो।

(३) लक्ष्य पर दृष्टि हो।

इन तीनो बातो के होने पर पूर्ण कार्य-कुशलता हो जायगी, क्योकि ऐसा न होने पर क्रिया, भाव तथा ज्ञान तीनो का उपयोग होगा। ज्ञान से लक्ष्य पर दृष्टि होगी, भाव से पवित्रता होगी और क्रियाशक्ति से कार्य मे सुन्दरता होगी। ऐसे कर्त्ता को आगे-पीछे का व्यर्थ चिंतन नही होगा।

आस्तिकता की कमी क्या है ? किसी भी सासारिक परिस्थिति से प्रसन्नता की आशा करना आस्तिकता की कमी है।

ईश्वर की सत्ता का अनुभव साधारण मनुष्यों को कैसे हो ? ईश्वर की सत्ता का अनुभव तो ईश्वर-भक्तों को होता है, परन्तु अपनी कमी प्रतीत होने पर अपने से विशेष सत्ता (ईश्वर) की स्वीकृति स्वय हो जाती है, क्योकि कमी कोई भी रखना पसन्द नही करता। अत. अपनी कमी को मिटाने के लिये ईश्वर की शरण आवश्यक हो जाती है।

पूर्व जन्म की बात याद न रहने के कारण मनुष्य किस प्रकार यह जाने कि उसकी साधना में विच्छेद कहाँ हुआ था ?

यदि पूर्व जन्म की स्मृति रहे तो उन्नति करने मे विघ्न होगा। अतः विस्मृति भगवत्-कृपा है, क्योकि आवश्यक है। वर्तमान जीवन ही पूर्व जीवन का फलस्वरूप है। फल के प्राप्त होने पर वृक्ष को जानने की आवश्यकता नही रहती। अतः वर्तमान जीवन का भले प्रकार निरीक्षण करो। कमी अनुभूति अपने आप हो जायगी।

भगवान् जो कुछ हमारे लिये करता है वही सर्वोत्तम है -यह भाव स्थायी कैसे रहे ?

जीवन की प्रत्येक क्रिया राग-द्वेष की निवृत्ति के लिये स्वाभाविक होती है, परन्तु उन पर विचार न करने से हम यह समझ नही पाते। भगवान् दु:ख तथा सुख के स्वरूप मे प्रकट होकर राग-द्वेष मिटाने की योग्यता प्रदान करते हैं। जीवन सुख, दु:ख से भिन्न कुछ नही-यह सभी मानते हैं। भगवद्भक्त होने पर तो प्रश्नकर्त्ता का यह भाव स्वयं दृढ़ हो जाता है, भाव की कमी सिर्फ इसीलिये शेष है कि ' मैं भक्त हूँ' यह भाव पूर्ण नही हुआ। भगवान् सब कुछ करते है, यह पूर्ण भक्त की निष्ठा है, क्योकि भक्त होने पर ' मैं कर्त्ता हूँ' यह भाव मिट जाता है। इस भाव के मिटते ही प्रेम-पात्र की ओर से होने वाली सभी क्रियाएँ कल्याणकारक प्रतीत होती है। अतः सब प्रकार से उनका हो जाने पर यह भाव स्वाभाविक दृढ हो जायगा कि भगवान् जो करते हैं वही सर्वोत्तम है।

गलत व्यवहार क्यों होता है ?

जिस प्रकार अपने में शरीर-भाव धारण करने पर गलत ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार कर्त्ता ने अपने को जिस कल्पना मे बाँध लिया है, उस कल्पना के

भूलने पर गलत व्यवहार हो जाता है, क्योंकि कर्त्ता के बदलने पर क्रिया बदलती है ।

—※—

२७ मार्च १९४१

हम साधारण मनुष्यो के लिए भगवत्-प्राप्ति का सुगम उपाय क्या है ?

जिस प्रकार भोगो का अभिलाषी पूजा पाठ करते हुए भी उस पूजा का अर्थ भोग-प्राप्ति रखता है, क्योंकि उसकी निष्ठा भोग मे होती है और क्रिया पूजा की होती है, उसी प्रकार भगवत्-प्राप्ति के अभिलाषी के लिए सारी आवश्यक क्रियाओ को करते हुए यदि उसकी निष्ठा भगवत्-प्राप्ति मे हो तो फिर उसकी अनेक क्रियाओ का भी एक ही अर्थ हो जायगा, अर्थात् उसकी सभी क्रियाये भगवत्-प्राप्ति के भाव मे विलीन जायेंगी । इस भाव की पूर्णता होने पर यह ज्ञान मे विलीन होगा, अर्थात् उसे भगवत्-प्राप्ति हो जायगी । अत जीवन मे एकनिष्ठता होनी चाहिए ।

उपासना साकार की की जाय अथवा निराकार की ?

उपासना करने से पहिले उपासक को यह भली प्रकार जान लेना चाहिये कि वह अपने को निराकार मानता है अथवा साकार, क्योकि साकार मानकर निराकार की उपासना नहीं कर सकता और निराकार मानकर साकार की उपासना नही कर सकता । उपासना तो वास्तव मे साकार तथा सगुण की ही होती है, क्योकि जिसको इन्द्रियों की अपेक्षा निराकार कहते हो वह बुद्धि की अपेक्षा साकार है । यह उपासक की रुचि है कि वह चाहे किसी साकार प्रतीक मे अनन्त गुणो का अनुभव करे अथवा निराकार में, अथवा अपने मे । इन तीनो प्रकार की

उपसनाओ का फल उपासना के पूर्ण होने पर एक हो जाता है। उपासना का अर्थ ही यह है कि अपने माने हुए स्वभाव को उपास्य के समर्पण कर दे, अथवा यो कहो कि वास्तविक रुचि का स्थायी कर पूर्ण कर ले। रुचि का स्थायी कर लेना उपासना का आरम्भ है और रुचि का पूर्ण होना उपासना का अन्त है, क्योकि रुचि की पूर्ति के लिये ही उपासना की आवश्यकता होती है।

अद्वैत तत्व की उपासना कैसे हो ? अद्वैत तत्व तो उपासना का फल है। क्रिया फल की अप्राप्ति में होती है, प्राप्ति मे नही।

निर्गुण तत्व की तीव्र अभिलाषा होने पर अभेद भाव की उपासना आरम्भ होती है। वही अन्त मे अद्वैत-तत्व में विलीन हो जाती है अर्थात् तत्व-ज्ञान हो जाता है।

सत्य का वास्तविक स्वरूप क्या है ? सत्य का अनुभव करने के लिये अपने माने हुए स्वभाव (असत्य) को मिटाना होगा।

साधारण मानव अपने स्वभाव के अनुसार ही सत्य का कथन करने है, जिस प्रकार पृथ्वी मे मिर्च को चरपराहट और गन्ने को मिठास दिखाई देती है। वास्तव में तो पृथ्वी मे अनन्त गुण है और वह गुणों से अतीत भी है। यदि मिर्च अथवा गन्ना पृथ्वी के वास्तविक तत्व को जानना चाहे तो उन्हे अपने स्वीकृत स्वभाव को मिटाना होगा। अतः सत्य होकर ही सत्य को जान सकोगे। सत्य के विषय मे कथन करना अपने माने हुए स्वभाव का परिचय देने के सिवाय कुछ अर्थ नही रखता, क्योकि कथन करने की सत्ता सीमित है और सत्य असीम है। 'असीम' शब्द सत्य का कथन नही है, बल्कि सकेत है।

गुरु करना चाहिए या नहीं ? यदि गुरु होना चाहते हो तो गुरु करना चाहिए, क्योकि गुरु होने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है, शिष्य होने के लिए नही। जव तक गुरु नही हो, तब तक शिष्य तो हो ही ।

परमात्मा के न मानने से क्या हानि है ? परमात्मा का मानना अथवा न मानना एक ही अर्थ रखता है, जव तक कि परमात्मा को जाना न जाय। अत परमात्मा को जानना चाहिये। मानना तो जानने का एक साधन मात्र है। साधन साध्य की अनुभूति में विलीन हो जाता है। अतः न मानने से साधन मे कठिनता होगी । यद्यपि सत्य माना नही जाता, बल्कि उसकी स्वाभाविक स्वीकृति होती है, परन्तु साधारण व्यक्ति स्वाभाविक स्वीकृति का निराकरण नही कर पाते। इसलिए जो निराकरण नही कर पाते उनको मानना अनिवार्य है, क्योकि मानने के आधार पर साधन का आरम्भ होगा और फिर साधन से विचार उदय होगा, जो निराकरण करने मे समर्थ होगा।

जिस प्रकार विषयो से मन लगता है वैसा ईश्वर में मन क्यो नहीं लगता ? जैसा विषयो मे मन लगता है, वैसा ईश्वर मे मन इसलिए नही लगता कि दु ख की कमी है। प्रत्येक प्रवृत्ति मे सुख तथा दुःख का रस आता है। जिस प्रवृत्ति मे सुख से दुःख अधिक वढ जाता है, वह प्रवृत्ति स्वयं मिट जाती है। यदि ईश्वर मे अपने को लगाना चाहते हो तो दु ख की कमी को पूरा करो। यदि दु.ख की कमी को पूरा करना चाहते हो' तो दुखियो की पूजा करो। जब तुम दुखियो का दु ख दूर करोगे, तव तुम्हारा ईश्वर से जातीय सम्बन्ध होगा, क्योकि

वे दु खहारी हैं । जातीय सम्बन्ध होने पर एकता अवश्य होती है, यह सभी जानते हैं ।

हम कर्तव्य और अकर्तव्य को किस प्रकार जानें ? जो कर्त्तव्य आपको सीमित से हटाकर असीम की ओर ले जाय, अर्थात् महान् बनाने में समर्थ हो वही कर्तव्य है और जो सीमित बनाये वही अकर्त्तव्य है ।

आस्तिकता का उदय कब होता है ? जब क्रिया-जन्य रस अर्थात् केवल कर्म से पूर्ति नही होती, तब पूर्णता के अभिलाषी के हृदय में कर्म से अतीत पूर्ण सत्ता की स्वीकृति स्वाभाविक उदय होती है, क्योकि कर्म वेचारा भोग से भिन्न कुछ नही दे पाता ।

सबसे अधिक किसकी सेवा का फल होता है ? सबसे अधिक फल उसकी सेवा से होता है, जिसका जीवन क्रिया-जन्य रस से ऊपर हो चुका है, क्योकि वही पूर्ण हो सकता है, जो पूर्ण विरक्त होता है और वही परमतत्व में अनुरक्त होता है । अतः उसकी सेवा की प्रतिक्रिया अर्थात् फल 'पूर्ण' की ओर से मिलता है ।

भगवान् कब आते हैं ? भगवान् तव आते हैं जब हम अपने को बिल्कुल खाली कर लेते है, क्योकि वे तब तक किसी प्रकार नही आ सकते, जव तक हम अपने में उनके सिवाय किसी और के लिए स्थान रखते हैं ।

—*—

सन्त-वाणी

करने की अपेक्षा कुछ न करना और गलत करने की अपेक्षा सही करना अधिक महत्व रखता है ।

क्रिया, भाव, ज्ञान तीनो को समर्पण करने पर वे शीघ्र ही आ जायंगे । हम एक-एक अर्पण करते है तभी नही आते ।

२८ मार्च १९४१

अभिमान आदि मानसिक विकारो का अन्त किस प्रकार हो ?

जीवन ज्ञान, भाव और क्रिया तीनो से मिला हुआ है, अत इन तीनो का सदुपयोग करो। ज्ञानसक्ति से यह अनुभव करो कि 'मै ईश्वर नही हूँ' । भावशक्ति से यह धारण करो कि मेरे जीवन से किसी को दु ख न हो, अर्थात् हृदय मे किसी को दु.ख देने का भाव उत्पन्न मत होने दो। क्रियाशक्ति से दूसरो की सेवा करो, किन्तु यह समझ कर करो कि जिनकी सेवा कर रहा हूँ उनकी कृपा से मेरा कल्याण होगा । यह उनकी कृपा है कि उन्होने मुझे सेवा करने का अवसर दिया। ऐसा करने से क्रिया-जन्य रस नही होगा, वल्कि क्रिया भाव मे विलीन हो जायगी और भाव की पूर्णता होने पर भाव ज्ञान-तत्व मे विलीन होगा । अत. सब विकार मिट जायेगे और पूर्ण तत्व का अनुभव होगा। यह भली प्रकार समझ लो कि कुल विकारो का अन्त एक साथ होता है। पूर्ण क्रिया, पूर्ण भाव और पूर्ण ज्ञान होने पर ही विकारो का अन्त हो सकता है। केवल क्रिया विकारो का अन्त करने मे असमर्थ है। केवल भाव भी अन्त नही कर सकता। क्रिया और भाव-जन्य रस की आसक्ति मिटने पर ही ज्ञान होता है। यथार्थ ज्ञान होने पर ही कुल विकार मिट सकेंगे। क्रिया और भाव के बदलने से विकारो की कमी होती है अन्त नही होता । साधारण मानव विकारो की कमी को विकारो का अन्त मान लेते है, इसीलिये क्रिया को भाव मे और

भाव को ज्ञान मे विलीन नही कर पाते, वल्कि क्रिया-जन्य रस तथा भाव-जन्य रस मे आसक्त हो जाते है । अतः इसी कारण बार-बार विकार उत्पन्न होते है । पूर्ण तत्व का बिना अनुभव किये विकारो का अन्त नही हो सकता ।

तीर्थो से क्या लाभ है और उनमे जाकर कैसा भाव रखना चाहिये ? जो प्राणी अपने को केवल स्थूल शरीर मानते है, अर्थात् शरीर को ही अपना आप जानते है उनके लिये तीर्थ सब से प्रथम साधन हैं, क्योकि वहाँ जाने पर दान स्नान आदि का करना अनिवार्य हो जाता है । तीर्थों मे लोकान्तर का भाव रखना चाहिये, ऐसा करने से लाभ अवश्य होगा ।

भगवान् क्या है और उनका वास्तविक स्वरूप कैसा है ? भगवान् क्या है ? यह तो भगवान् होकर ही जान सकोगे, क्योकि सत्य का अनुभव सत्य होकर ही होता है । गहराई से देखो कि आपकी वास्तविक रुचि क्या है ? यदि आप अपनी वास्तविक रुचि की पूर्ति के लिए समथ हैं, तब तो कोई प्रश्न ही नही होता, क्योकि प्रश्न आवश्यकता होने पर होता है । यदि ससार आपकी पूर्ति मे समर्थ है, तब भी प्रश्न नही होता, परन्तु आपका प्रश्न यह स्वय प्रगट करता है कि मुझे अपनी रुचि की पूर्ति के लिये, अर्थात् अपनी पूर्णता के लिए किसी पूर्ण तत्व की आवश्यकता है, अर्थात् भगवान् सब प्रकार से पूर्ण है । यदि उनके वास्तविक स्वरूप को जानना चाहते हो तो अपने माने हुए स्वभाव को मिटा दो, अर्थात् अपने आप को खाली कर लो । खाली होते ही भगवान् आ जायँगे, तब आप उनके स्वरूप का अनुभव कर सकोगे। भगवान् के वास्तविक स्वरूप का अनुभव करने के लिये आप को अपने

सिवाय और किसी की सहायता की आवश्यकता नही है, यहाँ तक कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को भी छोडना होगा। जब आप अकेले हो जायँगे तब भगवान् की कृपा से ही भगवान् को जान लेगे। प्यारे, कोई भी प्रेमी अपने प्रेम-पात्र से किसी के सामने नही मिलता, तो फिर जब तक आप शरीर आदि अनेक सम्बन्धियो को साथ लिए हुए है, आपका प्रेम-पात्र आपसे कैसे मिल सकता है ? भगावान् कैसे है ? यदि यह जानना चाहते हो तो अकेले हो जाओ।

बंधन कैसे हुआ ? यदि वर्तमान मे वन्धन प्रतीत होता है, तो वन्धनकाल मे वन्धन के कारण को नही जान सकोगे, क्योकि कार्य का अन्त होने पर कारण का ज्ञान होता है। अतः मुक्त होने पर वन्धन का ज्ञान होगा।

क्या श्राद्ध जिसके लिए किया जाता है उसको मिलता है ? गहराई से देखो प्रत्येक कर्म के दो स्वरूप होते हैं एक दृष्ट और दूसरा अदृष्ट। श्राद्ध-कर्त्ता का सकल्प श्राद्ध का अदृष्ट स्वरूप है। वह संकल्प ईश्वर द्वारा पूर्ण होता है। जिस प्रकार पोस्ट आफिस द्वारा भेजा हुआ मनी-आर्डर गवर्नमेन्ट की सत्ता के द्वारा जिसको भेजा जाता है, उसको मिलता है, यद्यपि भेजने वाले की दृष्टि से वह दूर है, परन्तु गवर्नमेन्ट की दृष्टि मे गवर्नमेन्ट के शासन के अन्तर्गत है, उसी प्रकार श्राद्ध-कर्त्ता की दृष्टि मे, जिसका वह श्राद्ध करता है, वह दूर है, किन्तु ईश्वर की दृष्टि मे दूर नही है। प्रत्येक संकल्प ईश्वर के द्वारा फल देता है।

हम कैसे जानें कि ईश्वर है ? क्या आपने ईश्वर को जानने के लिए जो आप कर सकते थे वह कर लिया है ? यदि

नही किया तो कर डालो। क्या आप ईश्वर को किसी और की सहायता से जान सके हो? यदि नही जान सके हो तो दूसरो की सहायता लेना छोड दो। जब आप दूसरो की सहायता लेना छोड दोगे, अथवा जो कर सकते हो कर डालोगे, अथवा ईश्वर की ही मर्जी पर छोड़ दोगे, तब 'ईश्वर है' यह स्वय अनुभव हो हो जायगा।

हम कैसे जानें कि जो कर सकते है वह कर लिया? यदि कुछ भी करने का भाव शेष है, तो वह अभी नही किया, जो कर सकते हो, क्योकि क्रिया से भिन्न कर्त्ता का स्वरूप कुछ नही है। क्रिया के पूर्ण होने पर कर्त्ता का अन्त हो जाता है। कर्त्ता का अन्त होते ही भोगत्व मिट जाता है। यह नियम है कि भोग का अन्त होने पर योग अपने आप हो जाता है। भोग ने ईश्वर से वियोग किया है, अत. भोग का अन्त करने पर ईश्वर का अनुभव होगा।

दूसरो की सहायता छोड़ने का अर्थ क्या है? सभी सगठन विषयो की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। यदि ईश्वर को जानना चाहते हो, तो अपने बनाये हुए सगठन का अन्त कर दो, अर्थात् किसी और की सहायता की आशा मत करो। सभी से निराश होने पर ईश्वर का अनुभव होगा, क्योकि ईश्वर से भिन्न वस्तुओ की आशा सिर्फ विषयों के लिए की जाती है। यहाँ तक कि बुद्धि आदि भी विषय प्राप्ति ही मे समर्थ होते हैं।

ईश्वर की मर्जी पर छोड़ देने का क्या अर्थ है? जब हमारी आवश्यकता की पूर्ति ससार नही कर सकता, तब ससार से अरुचि हो जाती है और जब हम स्वयं नही कर सकते, तब

अपने से अरुचि हो जाती है। बस उसी काल मे व्याकुलता पूर्वक समर्पण करने का भाव उत्पन्न होता है। समर्पण की पूर्णता होने पर ईश्वर का अनुभव हो जाता है। गहराई से देखो, ससार से निराश होने पर संसार की चाह नही रहती, अर्थात् विषयो का चिन्तन नही होता और अपने से निराश होने पर करने का भाव नही रहता, अर्थात् ईश्वर का चिन्तन नही रहता और अचिन्तता आ जाती है, जो ईश्वर का अनुभव कराने में समर्थ है।

आत्म-साक्षात्कार क्या है ? सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाना अर्थात् किसी प्रकार की आवश्यकता शेष न रहे। आत्म-साक्षात्कार होने से पूर्व यदि यह बधन है, तो वह मुक्ति है, यदि यह दुख है, तो आनन्द है, यदि यह सीमित है, तो वह असीम है, यदि यह जड़ है तो वह चेतन है और यदि यह मृत्यु है तो वह अमरत्व है।

आत्म साक्षात्कार का साधन क्या है ? यदि आत्म-साक्षात्कार करना चाहते हो तो अपने मे से विचारपूर्वक सभी मानी हुई सत्ताओ को निकाल दो।

—*—

सन्त-वाणी

सुख से दुख दब जाता है और आनन्द से मिट जाता है। आनन्द इच्छाओ की निवृत्ति होने पर और सुख इच्छाओ की पूर्ति होने पर होता है। इच्छाओ की पूर्ति के लिये परतन्त्रता है, क्योकि उसके लिये संगठन की आवश्यकता होती है। इच्छाओं की निवृत्ति के लिये स्वतन्त्रता है, क्योकि वह निवृत्ति त्याग से

होती है। मन के इधर-उधर जाने का कारण राग द्वेष है। जिनसे द्वेष है, उनसे प्रेम करो, जिनसे राग है उनका त्याग करो। ऐसा करने से मन शान्त हो जायगा ।

आस्तिकता की योग्यता उसी मानव को होती है, जिसको संसार की कोई भी परिस्थिति शान्ति नही दे पाती, अर्थात् विषयों के सभी रस नीरस हो जाने पर आस्तिकता का रस आता है ।

जिसकी अस्ति हर काल मे है, उसकी स्वीकृति आस्तिकता है । जिसकी अस्ति हर काल में नही, उसकी स्वीकृति नास्तिकता है ।

चेतन का अनुभव होने पर चेतन से भिन्न किसी भी सत्ता की प्रतीति शेष नही रहती ।

ज्ञानयोग मे त्यागरूप से क्रिया तथा निष्ठारूप से भाव विद्यमान है ।

भक्तियोग मे सेवारूप से क्रिया और लक्ष्यरूप से ज्ञान विद्यमान है ।

कर्मयोग में स्वार्थ-त्याग-रूप से भाव तथा विश्व के साथ एकतारूप से ज्ञान विद्यमान है।

—※—

संसार में जो क्षोभ है उसकी शान्ति का क्या उपाय है ? जिन साधनो से एक व्यक्ति का क्षोभ मिट सकता है, उन्ही साधनो से समाज का राष्ट्र का अथवा संसार का क्षोभ मिट सकता है।

क्षोभ का कारण सीमित भाव है। सीमित भाव का अन्त करने पर क्षोभ का अन्त हो जाता है। अत उन क्रियाओ को करो जो असीम की ओर ले जायँ, अर्थात् विश्व के

साथ एकता करने मे समर्थ हो । जब अनेक व्यक्तियो के संकल्प सीमित भाव मिटाने के होगे तब ससार का क्षोभ मिटाने के लिए भगवत्कृपा से विशेप शक्ति स्वय उत्पन्न हो जायगी और क्षोभ का अन्त कर देगी, क्योकि प्रत्येक जीवन कल्पतरु की साया मे निवास कर रहा है । यह भली प्रकार समझ लो कि जो वस्तु जितनी अधिक अव्यक्त होती है, उतनी ही अधिक विभु तथा शक्तिशाली होती है । सकल्प शक्ति इन्द्रियो की क्रिया की अपेक्षा अधिक अव्यक्त है, जब संकल्प के अनुसार निष्ठा हो जाती है, तब सफलता अवश्य होती है ।

दुष्टो का दमन कैसे हो ? दुष्टों का आक्रमण निर्बल पर होता है । यदि उनका दमन करना चाहते हो, तो सबल (आत्मिक, सामाजिक और शारीरिक बल सम्पन्न) बनो । सामाजिक बल से शारीरिक बल पर विजय प्राप्त कर सकते हो और आत्मिक बल से सामाजिक बल पर विजय प्राप्त कर सकते हो । सज्जनता बढा लेने पर ही दुर्जनता का अन्त कर सकते हो । दुर्जनता से दुर्जनता किसी प्रकार भी मिटायी नही जा सकती ।

—※—

३० मार्च १९४१

यदि आत्मा अविनाशी है और शरीर जड़ है तो फिर मार डालने से क्या पाप है ? गहराई से देखो, जिन वासनाओ की पूर्ति के लिए उस बेचारे को प्रकृति माता से जो क्षेत्र मिला है, उसके तोड़ देने पर उसकी पूर्ति में विघ्न होगा, इसलिए हिंसा है और मारने वाले का भाव कठोर होगा । उसके मन पर मारने का सकल्प अंकित हो जायगा, इसलिए वह अपने को अपने सकल्प से बचा नही सकेगा, अर्थात् वह

सकल्प उसकेजीवन का स्वरूप हो जायगा, जिससे वह स्वय अपनी उन्नति मे बाधक होगा। मारने वाले की हानि मरने वाले से कही अधिक होगी। इसी कारण अहिसा व्रत सर्वोत्तम व्रत है।

अहिसा क्या है ? जिसकी प्रसन्नता किसी भी वस्तु के आधार पर जीवित है वह अहिसा व्रत का पालन नही कर सकता, क्योकि किसी भी वस्तु की आशा करने पर किसी को दु:ख अवश्य होगा। क्योकि कोई ऐसी वस्तु नही है, जिस पर किसी न किसी का अधिकार न हो, अर्थात् किसी न किसी का अवश्य होता है। किसी भी वस्तु के आधार पर प्रसन्नता न करना ही पूर्ण अहिसा है।

—※—

सन्त-वाणी

'करना' से 'होना' और 'होना' से 'रहना' अधिक प्रिय है, क्योकि 'करने' की अपेक्षा 'होना' और 'होने की अपेक्षा 'रहना' अधिक स्वाभाविक है। 'करने' में क्रियाशक्ति की प्रधानता है, 'होने' मे भाव की तथा 'रहने' मे ज्ञान की प्रधानता है। जो 'होना' चाहिए उसे 'करना' इसलिए पडता है कि उसका अधिकार प्राप्त नही किया, क्योकि वह नही किया गया जो 'होने' से पूर्व करना चाहिए था। यह नियम है कि जो 'करना' चाहिए वह करते ही जो 'होना' चाहिए अपने आप होता है। जो 'होना' चाहिए उसके होने से जो 'रहना' चाहिए वह रह जाता है अर्थात् 'करना' 'होने' मे और 'होना' 'रहने' "(है)" मे विलीन होता है।

शुभ कर्म इसलिए नही होता कि उससे पूर्व अशुभ कर्म का त्याग नही किया । व्याकुलतापूर्वक प्रेम-पात्र का स्मरण इसलिए नही होता कि उससे पूर्व कर्म से उत्पन्न होने वाले रस का त्याग नही किया । ध्यान इसलिए नही होता कि उससे पूर्व व्याकुलता-पूर्वक स्मरण नही किया । समाधि इसलिए नही होती कि उससे पूर्व लगातार ध्यान नही किया । बोध इसलिए नही होता कि उससे पूर्व समाधि-रस का त्याग नही किया ।

किसी को सुख क्यों देना चाहिए ? यदि किसी से सुख लिया है, तो तुम उसके ऋणी हो, अतः दूसरो को सुख देना अनिवार्य है । जिसने सुख दिया है, उसने सुख देना सिखाया है । सुखदाता को सुख दे नही सकते, अत दुखियों को सुख देना ही सुखदाता के ऋण से छूट जाना है ।

ईश्वर या गुरु को सुख कैसे दें ? उसमे अभिन्न होना ही उसकी सेवा है, अथवा उसके नाते से दुखियों की सेवा करना उसकी सेवा है । वास्तव मे तो गुरुतत्व अथवा ईश्वर-तत्व सब प्रकार से पूर्ण है । उनके शरणापन्न हो जाना अर्थात् अपने आपको खो देना ही उनकी सेवा है । गुरु के दिये हुए 'गुर' को जीवन का स्वरूप बना लेना परम गुरु-भक्ति है । गुरु के वताये हुए लक्ष्य से भ्रष्ट न होना ही गुरु-दक्षिणा है ।

स्मरण चिन्तन, ध्यान आदि में क्या भेद है ? जप मे क्रिया की प्रधानता है, भाव लेश-मात्र है । स्मरण क्रिया और भाव समान हैं । चिन्तन मे क्रिया की कमी तथा भाव

की प्रवलता है । ध्यान मे केवल भाव है । समाधि में अनेक भाव एक भाव में विलीन हो जाते हैं।

सदाचार क्या है ? सदाचार वही है कि जिसके करने से भय रहित स्थायी शान्ति प्राप्त हो और किसी का अहित न हो तथा जिसके करने मे कर्त्ता सदैव स्वतन्त्र है ।

सचाई की ओर जाना बड़ा कठिन मालूम होता है ? गहराई से देखो, सचाई कठिन नही होती। यदि कठिन प्रतीत होती है, तो समझ लो बुद्धि का प्रमाद है। जिसकी अधिक सचाई है, उतनी ही अधिक सुलभ है। झुठाई की ओर जाना वास्तव मे कठिन है, क्योकि अस्वाभाविक है, सीख कर जाना होता है । सचाई से जातीय सम्बन्ध है। झुठाई की आसक्ति के कारण सचाई की चाह नही होती । चाह होने पर तो सभी कठिन मालूम होते है । कठिन तो वह है कि चाह हो और न कर सकें । सचाई की चाह होने पर सचाई की ओर जाने के लिए सचाई के अभिलाषी को अपने सिवाय किसी और की आवश्यकता नही होती । प्यारे, झुठाई से विमुख होते ही सचाई स्वय अपना लेती है । अतः सचाई से मत डरो, क्योकि वह अत्यन्त सुगम तथा स्वाधीन है । चाह होते हुए यदि सचाई कठिन मालूम पड़े तो समझ लो कि उसमें झुठाई अवश्य है। क्योकि सचाई और कठिन ! ऐसा कैसे हो सकता है ? अर्थात् सचाई कठिन नही हो सकती । या तो चाहते नही या झुठाई है । सचाई आकर जाती नही, जब आती है तब पूर्ण आती है। सचाई के टुकड़े नही हो सकते । सचाई के आने पर कमी शेष नही रहती । सचाई जीवन की परम आवश्यक वस्तु है, अतः उसके बिना चैन से रहना

परम भूल है। सचाई कठिन है यह समझना दिमाग का रोग है, और कुछ नही। भला किसी को अपनी वास्तविकता की ओर जाना कठिन मालूम होता है ? कदापि नही । कठिनाई उसी मे होती है जिसको नही कर सकते, परन्तु करते हैं,

गहराई से देखो, विषय-प्राप्ति मे स्वतंत्र हो अथवा परतंत्र ? विषय स्थायी रहते है या चले जाते है ? यदि विषयो के प्राप्त करने मे परतत्र हो तो उनका प्राप्त करना कठिन है । जिसका प्राप्त करना कठिन है उसका त्याग अवश्य सुलभ है। प्यारे विषयो का त्याग करते ही सचाई अपने आप आ जाती है । जो त्याग करने वाले का त्याग नही करता उसी को सचाई कठिन मालूम होती है । गहराई से देखो, विषय अथवा विषयो के भोगने की शक्ति ये दोनो आपका त्याग निरन्तर कर रहे हैं। आप इनका त्याग नही करते, इसी दोष के कारण सचाई कठिन मालूम होती रहती है।

ईश्वर प्राप्ति का सरल उपाय क्या है?

यदि स्वतन्त्रतापूर्वक ईश्वर का अनुभव करना चाहते हो तो 'उनके' बिना चैन से न रहो, अर्थात् विरह उत्पन्न करो । विरही को विरह के सिवाय और किसी साधन की आवश्यकता नही होती । जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार का अन्त हो जाता है, इसी प्रकार विरह उत्पन्न होते ही सब प्रकार के दोषो का अन्त हो जाता है । दोषो का अन्त होते ही ईश्वर-प्राप्ति अपने आप हो जाती है। यह भली प्रकार समझ लो कि विरहाग्नि में सभी विकार जल जाते हैं । यह नियम है कि विकारयुक्त जीवन निर्विकार तत्व का अनुभव नही कर सकता। अत. शीघ्र से शीघ्र विरह-रूप अग्नि मे विकार

जला दो। यदि विरह की पूर्णता का अनुभव करना है तो मछली के जीवन से सीखो। देखो कि वह जल के बिना कैसे रहती है और अन्त मे क्या करती है ?

क्या ज्ञान से ईश्वर-प्राप्ति नहीं होती ? ईश्वर तो ईश्वर-भक्तो की वस्तु है।

क्या भक्तों को तत्व-ज्ञान नहीं होता ? भक्तवत्सल भगवान अपने भक्तो मे किसी प्रकार की कमी शेष नही रहने देते, अत. भगवान के प्रसाद से भक्त को ज्ञान भी हो जाता हैं। जिस प्रकार चोरी करने वाला दण्ड नही चाहता, फिर भी उसे दण्ड मिलता ही है, उसी प्रकार भक्त ज्ञान की इच्छा न भी करे तब भी भगवत्-कृपा से उसे तत्व-ज्ञान होता ही है, क्योकि तत्व-ज्ञान के बिना पूर्ण भक्ति नही होती।

तत्व-ज्ञान तो ईश्वर-प्राप्ति का फल है। साधारण मानव ज्ञान के साधन को ज्ञान मान लेते हैं, यद्यपि ज्ञान का साधन ज्ञान नही है। भक्ति तो केवल विरह है, जिसका फल मिलन है। मिलन होने पर किसी प्रकार का भेद नही रहता, अर्थात् भक्ति की पूर्णता ही तत्व-ज्ञान है।

ज्ञान का स्वतन्त्र साधन विचार है। तत्व-ज्ञान होने पर तत्व-निष्ठा ही भक्ति है। भक्त को प्रथम भक्ति और फिर तत्व-ज्ञान तथा जिज्ञासु को प्रथम तत्व-ज्ञान और फिर तत्व-निष्ठा होती है।

—*—

सन्त-वाणी

आत्मा परमात्मा का भेद तब तक है, जब तक परमात्मा की अप्राप्ति है। अप्राप्ति तब तक है, जब तक विरह अथवा जिज्ञासा

की कमी है । विरह अथवा जिज्ञासा की कमी तब तक है, जब तक अभागे सुख ने अधिकार किया है, अर्थात् दुःख-भगवान् की कृपा नही हुई, अथवा यों कहो कि दुखियो का पूजन नही किया ।

परमात्मा मे भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है वह अपूर्ण है । अपूर्ण मे ही पूर्ण की अभिलापा होती है । अभिलाषा की पूर्णता होने पर पूर्ण अपूर्ण अभिन्न हो जाते हैं, अर्थात् अपूर्ण की सत्ता मिट जाती है ।

आत्मा और परमात्मा मे भेद कराने वाली केवल अभिलाषा है । अभिलाषा का अन्त होने पर अभेद हो जाता है । अभिलाषा ही जीव का स्वरूप है, अतः अभिलाषा का अन्त होते ही 'जीवत्व' का अन्त हो जाता है, और फिर भेद शेष नही रहता ।

तत्व-ज्ञानपूर्वक तत्व-निष्ठा ही जीवन-मुक्ति है । जीवन-मुक्ति जीवन का सर्वोत्तम आदर्श है ।

जिज्ञासा होने पर जिज्ञासा की पूर्ति के साधन बिना बुलाये आ जाते हैं । जिज्ञासा जागृत करो, साधन की चिन्ता मत करो ।

—※—

<u>३१ मार्च १९४१</u>

सन्त-वाणी

हमारे प्रेम-पात्र को हमारी रुचि का पूर्ण ज्ञान हैं । यदि उन्हे ज्ञान नही तो वे हमारे प्रेम-पात्र हो ही नही सकते । सारे संगठनो को छोडते हुए हमें उनके समर्पित होना है । कृपया कर्मेन्द्रियो, ज्ञानेन्द्रियो एवं मन वुद्धि आदि सभी सम्वन्धियों से

कह दो कि अब हम अपने प्रेम-पात्र से मिलेंगे। आप लोगो की कृपा से विषयों का यथार्थ अनुभव हो गया। अब हम विषयो से तृप्त हो चुके है। कृपया आप भी आराम कीजिये।

प्यारे, करना उसी को पडता है, जो औरो से काम लेता है। जो किसी से काम नही लेता, उससे भी कोई काम नही लेता। जो बुद्धि आदि से काम लेते है, उनको ही करने का भूत लगा रहता है। यह सभी जानते हैं कि करना लक्ष्य नही है, किन्तु औरो से काम लेते हैं। इस दोष के कारण ही करने का अन्त नही कर पाते। करना भोगो की प्राप्ति के लिए होता है, प्रेम-पात्र के मिलन के लिए नही। जिस काल मे हम सभी को छुट्टी दे देंगे, अर्थात् अकेले हो जायेंगे, उसी काल मे हमारे प्रेम-पात्र हमे अवश्य अपना लेंगे, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नही है। इसमे संदेह करना प्रेम-पात्र की सत्ता की अस्वीकृति के सिवाय और कुछ अर्थ नही रखता।

वास्तविक रुचि क्या है ? गहराई से देखो, शाति और शक्ति सभी को स्वाभाविक प्रिय हैं। शाति क्या है ? अपने में कमी का शेष न रहना। शक्ति क्या है ? अनन्त ऐश्वर्य होना। इस रुचि की पूर्ति के लिए बेचारा ससार असमर्थ है। यह रुचि प्रेम-पात्र से छिपी नही है। अपने को उनके समर्पित कर देने पर अवश्य मिलेगी। शाति अपने लिए और शक्ति सेवा के लिए होती है। जो कुछ नही माँगता उसको दोनो मिलती है और जो माँगता है, उमे वे एक देते हैं। कुछ न माँगना अथवा कुछ न करना समर्पण है। केवल शान्ति के पुजारी त्याग-पूर्वक तत्व-ज्ञान से शांति पाते हैं। केवल शक्ति के पुजारी तप,

योग, सयम आदि से शक्ति पाते है, परन्तु समर्पित होने पर त्याग तथा तप स्वाभाविक हो जाते है । अतः समर्पित होने वाला शक्ति और शान्ति दोनो पाता है ।

सन्त-वाणी

'हम उनके बिना किसी प्रकार भी नही रहेगे' इस भाव के आ जाने पर जिसको चाहते है, उनसे मिलने के सभी अधिकारी हो जाते है। ऐसे अधिकारी को भूतकाल याद नही आता भविष्य की आशा नही होती और वर्तमान में कल नही पड़ती। ऐसा जीवन होने पर लक्ष्य की पूर्ति स्वय हो जाती है ।

ऐसा अधिकारी होने के लिए, जीवन मे जो सुख की सत्ता है, उसका अन्त कर दो, क्योकि वह सुख किसी दु.खी का दु.ख है। स्वतन्त्रतापूर्वक ससार मे सुख नही मिलता। किसी का दुःख ही किसी का सुख होता है । उन्नतिशील मानव दूसरो के दु.ख से उत्पन्न होने वाला सुख पसन्द नही करते, वल्कि दुखियो के दु.ख से जीवन भर लेते है, अथवा यो कहो कि दुःख की सत्ता का ही अन्त करना चाहते है, क्योकि जव तक कोई भी दुखी प्रतीत होगा, तव तक कभी-कभी उसका दु ख हमारा हो जायगा। इसी भाव से कुल दु.ख का अन्त. करने के लिए प्रयत्न करते है।

वाह्य साधन न होने पर भी दुखियों के दु ख से दुखी होने वाला एकान्त में वैठा हुआ दुखियो के दु.ख का अन्त कर रहा है, क्योकि इच्छा-शक्ति लीलामय भगवान् की योगमाया है, जो सव कुछ कर सकती है । ऐसे हितैषी को भोला ससार

जान नही पाता, किन्तु वह दुखियो के दुःख को जानता है, क्योकि उसका विश्व-जीवन है, वह सीमित व्यक्ति नही है ।

सगठन की आवश्यकता सीमित भाव होने पर ही होती है । सचाई की ओर जाने के लिए स्वतन्त्रता है । जिसमे परतन्त्रता प्रतीत हो वह सचाई का मार्ग नही है । जिन साधको मे ज्ञान की कमी होती है, उनको इच्छा-शक्ति की आवश्यकता होती है। जिनमें इच्छा-शक्ति की कमी होती है, उनको बाह्य संगठन अथवा इन्द्रिय-जन्य क्रिया की आवश्यकता होती है । इन्द्रिय-जन्य क्रिया की आवश्यकता आस्तिकता की कमी के आधार पर जीवित रहती है । आस्तिकता आ जाने पर तो मनुष्य अपना अथवा संसार का सुधार स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है ।

—※—

साधक को कैसा भोजन करना चाहिए?

गहराई से देखो, भोजन किस लिए किया जाता है ? भूख का दुःख न हो तथा प्राण अर्थात् जीवनशक्ति काम करती रहे, इसलिये भोजन किया जाता है । विवेकी पुरुष तो भोजन नही करता, बल्कि प्राण भववान् को आहुति देता है । आहुति ऐसी वस्तुओ की देनी चाहिए, जिनसे जीवनशक्ति दैवी स्वभाव की हो, अर्थात् आसुरी स्वभाव न आने पाये । भोजन का शारीरिक स्वभाव से अभेद सम्बन्ध है । भोजन की सामग्री सत्वप्रवान हो । सवत्प्रधान का अर्थ यह नही है कि केवल फल, दूध, आदि हो, बल्कि रोटी, साग, दाल, भात आदि सादा आहार हो और अधिक काल का बना हुआ न हो, जो पचने मे भी सुगम हो और प्राण को अधिक काल तक शक्ति भी

दे सके। भोज्य पदार्थों के प्राप्त करने के लिए धन भी सात्विक अर्थात् न्यायपूर्वक उपार्जित हो और भोजन बनाने वाला भी सात्विक स्वभाव का हो अथवा परिवार-सम्बन्धी हो। कुछ महानुभाव जिनसे भोजन बनवाते हैं, उनको (नौकर आदि को) अपने-जैसा भोजन नही खिला पाते। भोजन बनाने वाले के मन मे भोजन-पान आदि करने का रस प्राय. बना रहता है, किन्तु उसे मिलता है नही। अत· उस भोजन मे मानसिक दोप आ जाता है। ऐसा भोजन करने से मानसिक अवनति होती है। नौकर से भोजन उनको बनवाना चाहिये, जो अपने समान उसे खिला सके, नही तो अपने घर के ही लोगों से बनवाना चाहिए, जिससे भोजन मे मानसिक अपवित्रता न आने पावे। भोजन बनाने के लिए वही उचित होता, जिसका हृदय माता के समान विशाल हो।

आहुति मे अभक्ष्य पदार्थ (अण्डा-मासादि) बिल्कुल नही होना चाहिए। उन पदार्थों के सेवन करने से प्राण मे शक्ति-हीनता और स्वभाव मे असुरता आती है।

प्रत्येक ग्रास देते हुए हृदय मे यह भाव हो कि हम प्राण भगवान् को आहुति दे रहे है। प्रधानतया पाँच प्रकार का प्राण है। यह भावना दृढ़ करने के लिए भोजन के आरम्भ-काल मे, आचमन करने के पश्चात् प्रत्येक प्राण के नाम से, "प्राणाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा,"—ऐसा बोल कर सात्विक पदार्थों के पाँच ग्रास आहुति दे। ऐसा प्रतिदिन करने से 'मैं भोजन नही करता, बल्कि प्राण को आहुति देता हूँ' यह भावना दृढ हो जायगी और भोजन में

आसक्ति नही रहेगी । इससे स्वाद-बुद्धि का अन्त हो जायगा और स्वाद का अभाव होने पर वीर्य-रक्षा बड़ी सुगमता से हो जाती है। जो भोजन का सयम नही कर सकता, वह वीर्य रक्षा नही कर सकता। वीर्य-रक्षा के विना बुद्धि आदि मे सात्विकता नही आती । अतः साधक को भोजन समझ-बूझ कर करना चाहिए । देखो, एक-एक ज्ञानेन्द्रिय से एक-एक कर्मेन्द्रिय का सम्बन्ध है । जो स्वाद को नही जीत पाता, वह उपस्थ को नही जीत सकता, जैसे जो सुन नही पाता, वह बोल भी नही सकता, आदि ।

जीव तथा ईश्वर का स्वरूप क्या है ? गहराई से देखो, प्रश्नकर्त्ता महानुभाव जीव हैं या ईश्वर, या दोनो से भिन्न ? यदि प्रश्नकर्त्ता को स्वय अपना पता नही, तो जीव ईश्वर का पता कैसे चला सकते हैं ? क्या आपने अपने में से शरीर के संग से उत्पन्न होने वाले भाव का अन्त कर दिया है ? यदि कर दिया है, तो अब रुचि क्यो शेष है ? देखो, शरीर-भाव का अन्त करने पर भोग-इच्छा का अन्त हो जाता है, क्योकि शरीर भोग के उपभोग करने का क्षेत्र है। भोग-इच्छा का अन्त होते ही वास्तविक अभिलाषा जागृत हो जाती है।

वास्तविक अभिलाषा क्या है ? क्या आप सर्वदा एकसा रहना पसन्द नही करते ? क्या आप जानना नही चाहते ? क्या आप दुःख का अन्त-करना पसन्द नही करते ? इन अभि-लाषाओ के लिए प्रत्येक मानव मजबूर है जिसको यह रुचि है, वही जीव है । जिससे इस रुचि की पूर्ति होती है, वही ईश्वर है । जीवत्व उसी समय तक जीवित है, जिस समय तक इस रुचि की पूर्ति नही हुई। रुचि की पूर्ति होते ही ईश्वर का

ईश्वरत्व और जीव का जीवत्व मिट कर एक ही तत्व शेष रह जाता है, जो तत्ववेत्ताओ का निज-स्वरूप तथा भक्तों का भगवान् है ।

जो सर्वदा नही रहता, उसको यदि असत् कहते हो, तो सर्वदा रहने वाला सत् है । जिसमे ज्ञान नही है, उसको यदि जड कहते हो, तो जिसमें ज्ञान है, वह चेतन है । जिसमे दु.ख नही है, वही आनन्द है ।

अत. जीव की वास्तविक रुचि क्या हुई ? सत्, चित्, आनन्द पाने की । यह रुचि जिसकी है, वही जीव है और जिससे यह रुचि अभिन्न होती है, वही ईश्वर है, अर्थात् ईश्वर से जीव की जातीय एकता और मानी हुई दूरी है तथा शरीर से मानी हुई एकता और जातीय भिन्नता है ।

शरीर से ससार की स्वरूप से एकता है ? इसी कारण जब तक शरीर-भाव बना रहता है, तब तक संसार की आवश्यकता प्रतीत होती रहती है, अथवा यो कहो कि कुल ससार एक शरीर है । कुल संसार को एक शरीर जान लेने पर कुल ससार से असगता हो जाती है । जिसको असगता होती है, वह जीव, और असग होने पर जिससे एकता होती है, वह ईश्वर है । विपय-विराग होने पर जीव-भाव को अनुभूति, और ईश्वर-भाव होने पर ईश्वर की अनुभूति होती है । यदि ईश्वर और जीव का स्वरूप जानना चाहते हो, तो योग्यता सम्पादन करो । यह प्रश्न हल किया जाता है, सीखा नही जाता । विषयी ससार को जान पाता है, विपय-विरागी जीव को जान पाता है और जिज्ञासु, तथा भक्त ईश्वर को जान पाते है ।

जीव का स्थान कहाँ है ? जो शरीर पर अपना अधिकार मानता है, वही जीव है । गहराई से देखो शरीर में क्रिया-शक्ति और ज्ञान-शक्ति की झलक प्रतीत होती है, इसलिए पाँच कर्मेन्द्रियो के और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के स्थल हैं, यद्यपि एक एक कर्मेन्द्रिय एक एक ज्ञानेन्द्रिय से अभेद है, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियो का कार्य ही कर्मेन्द्रियाँ हैं। जैसे वाणी का कारण कान है, क्योकि कान के बिना वाणी काम नही करती । जिसने सुना नही, वह बोलता भी नहीं । ऐसा ही सम्बन्ध आंख और पैर का, रसना और उपस्थ का, घ्राण और गुदा का तथा त्वचा और हाथ का है । कर्मेन्द्रियो का निरोध करने पर वह ज्ञानेन्द्रियो मे विलीन हो जाती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ मन में । जो ज्ञान और क्रिया की झलक दो विभागो मे बँटी हुई थी, वह मन में आकर एक हो जाती है, क्योकि मन मे क्रियाशक्ति और ज्ञान-शक्ति दोनो का प्रकाश है । मन मे सकल्प की क्रिया भी होती है और वस्तु का ज्ञान भी होता है । यदि मन का सम्बन्ध इन्द्रियो से न हो, तो इन्द्रियाँ कुछ भी नही कर पाती । इन सब कारणो से मन मे दोनो विभागो की एकता सिद्ध होती है । मन भी बुद्धि की सम्मति के विना कुछ भी नही कर पाता, अत मन बुद्धि मे विलीन हो जाता है । बुद्धि मे क्रिया-शक्ति लेशमात्र और ज्ञान-शक्ति की विशेष झलक रहती है । बुद्धि इच्छाओ के अनुसार प्रवृत्त होती है । इच्छाएँ मुख्यरूप से दो प्रकार की होती है— (१) अपने मे किसी प्रकार की कमी न रखने की, (२) विपयो के भोग की। ये दोनो अहमाव मे रहती है, अतः यही जीव का मुख्य स्थान है ।

—※—

किसी व्यक्ति या समाज पर कैसे अधिकार किया जाय ?

१. जिस व्यक्ति तथा समाज पर अधिकार करना चाहते हो, तो प्रथम उसकी आवश्यकता की पूर्ति करो ।
२ उससे अपनी पूर्ति की आशा मत करो ।
३. उसकी ओर से आने वाले आक्रमणो का अपने पर प्रभाव मत होने दो, अर्थात् उसको लीलावत् समझो ।
४ उसकी प्रतिकूलता पर विश्वास मत करो, बल्कि उनकी अनुकूलता का चिंतन करो ।

—※—

सन्त-वाणी

करने के अभिमान से न करने का दु:ख कही अच्छा है, क्योकि करने का अभिमान फल मे वाध लेता है और न करने का दुःख हृदय का परिवर्तन करने मे समर्थ होता है । हृदय का परिवर्तन होने पर जो करना चाहिए, उसे करने की शक्ति उत्पन्न होती है ।

अच्छाई का अभिमान बुराई का मूल है । अभिमान रहित अच्छाई पूजन करने योग्य है ।

करने का अभिमान तव तक होता है, जब तव करना सीखा जाता है । कर्त्ता को करने का पूर्ण फल तव मिलता है, जव कर्तव्य कर्त्ता का स्वभाव हो जाय । स्वभाव होने पर करने का अभिमान नही होता, जिस प्रकार फूल के खिलने पर गन्ध स्वाभाविक फैलती है, किन्तु फूल को यह अभिमान नही होता कि मैं गन्ध फैला रहा हूँ ।

किसी व्यक्ति या समाज पर कैसे अधिकार किया जाय ?

१. जिस व्यक्ति तथा समाज पर अधिकार करना चाहते हो, तो प्रथम उसकी आवश्यकता की पूर्ति करो ।
२ उससे अपनी पूर्ति की आशा मत करो।
३ उसकी ओर से आने वाले आक्रमणो का अपने पर प्रभाव मत होने दो, अर्थात् उसको लीलावत् समझो।
४ उसकी प्रतिकूलता पर विश्वास मत करो, बल्कि उनकी अनुकूलता का चिंतन करो।

—※—

सन्त-वाणी

करने के अभिमान से न करने का दु.ख कही अच्छा है, क्योकि करने का अभिमान फल मे बाध लेता है और न करने का दु.ख हृदय का परिवर्तन करने में समर्थ होता है । हृदय का परिवर्तन होने पर जो करना चाहिए, उसे करने की शक्ति उत्पन्न होती है।

अच्छाई का अभिमान बुराई का मूल है । अभिमान रहित अच्छाई पूजन करने योग्य है ।

करने का अभिमान तब तक होता है, जव तव करना सीखा जाता है। कर्त्ता को करने का पूर्ण फल तव मिलता है, जव कर्तव्य कर्त्ता का स्वभाव हो जाय। स्वभाव होने पर करने का अभिमान नही होता, जिस प्रकार फूल के खिलने पर गन्ध स्वाभाविक फैलती है, किन्तु फूल को यह अभिमान नही होता कि मैं गन्ध फैला रहा हूँ ।

२ अप्रेल १९४१

अन्तःकरण की शुद्धि क्या है ?

गहराई से देखो, जिस प्रकार वस्त्र मे बाह्य वस्तुओ का मिल जाना वस्त्र की मलिनता कहलाती है और उन वस्तुओ का जो वस्त्र की जाति से भिन्न है, निकल जाना ही वस्त्र की शुद्धता कहलाती है, उसी प्रकार अन्त.करण में विषयादिक स्वभाव का प्रभाव हो जाना ही अन्तःकरण की मलिनता है और उससे विषय आदिका प्रभाव निकल जाना ही अन्त करण की शुद्धता है। अन्तःकरण की शुद्धता हो जाने पर उसकी प्रवृत्ति स्वाभाविक हो जाती है। स्वाभाविक प्रवृत्ति होने पर प्रवृत्ति-काल से भिन्न अन्तःकरण स्वय अपने कारण में विलीन हो जाता है, अर्थात् निर्विकल्प स्थिति की अनुभूति होती है।

निर्विकल्प स्थिति शुद्ध अन्तःकरण की स्वाभाविक अवस्था है। इन्द्रियो की क्रिया का प्रभाव क्रिया के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता, अर्थात् इन्द्रियो की चेष्टा निर्जीव मशीन की भाँति होती रहती है।

जिस प्रकार बाह्य इन्द्रियाँ चेष्टारहित अवस्था में अन्तःकरण मे विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार आन्तरिक इन्द्रियाँ चेष्टा-रहित होने पर निर्विकल्प स्थिति मे विलीन हो जाती हैं। यही अन्तःकरण की शुद्धता है।

अन्तःकरण की शुद्धता का फल क्या है ?

अन्त.करण शुद्ध होने पर पूर्ण सत्य की जिज्ञासा जागृत होती है, और फिर सत्य की कृपा से स्वयं सत्य का अनुभव हो जाता है।

सत्य का अनुभव करने के लिये, अथवा यो कहो कि जीवन की पूर्णता के लिये, अन्त करण की शुद्धता परम अनिवार्य है ।

सत्य और अहिसा से क्या राष्ट्र शासन कर सकता है ?

गहराई से देखो, जिस राष्ट्र से सत्य तथा अहिसा निकल जाती है, वह राष्ट्र किसी प्रकार शासन नही कर सकता, क्योकि सत्य और अहिसा की रक्षा के लिये ही राष्ट्र की आवश्यकता होती है । जो गुण स्वय राष्ट्र के जीवन का स्वरूप नही है, भला उस गुण की राष्ट्र रक्षा ही कैसे कर सकता है ? अर्थात् नही कर सकता ।

साधारण मानव सत्य-और अहिसा को राष्ट्र की आवश्यक वस्तु नही मानते, यह वास्तव मे भूल है, क्योकि धर्म और राष्ट्र इन दोनो का परस्पर समान सम्बन्ध है । जिस प्रकार सेना का विभाग राष्ट्र के जान व माल को रक्षा करता है, उसी प्रकार राष्ट्र धर्म की रक्षा करता है । अत राष्ट्र धर्म का अंग है और धर्म मानव का जीवन है । जो राष्ट्र मानव-जीवन की पूर्ति में असमर्थ है, वह जीवित नही रह सकता ।

सभी राष्ट्रो का परिवर्तन तब हुआ है, जब उनमें स्वार्थ की अधिकता और सत्य तथा अहिसा की कमी हुई है । सत्य की कमी से न्याय की कमी हो जाती है और अहिसा की कमी से प्रजा का दु ख नही दिखाई देता ।

जो राष्ट्र न्याय नही कर सकता अथवा प्रजा के दु ख से दुखी नही होता, वह भला शासन कैसे कर सकता है ?
अर्थात् नही कर सकता ।

क्या सभी जनता सत्य और अहिंसा वादी हो सकती है ?

गहराई से देखो, सभी जनता वास्तव में राष्ट्र नहीं होती। राष्ट्र तो इने गिने महानुभावों का समुदाय होता है। सभी जनता तो निर्जीव मशीन की भाँति उस समुदाय का अनुकरण करती है। राष्ट्र के समुदाय का परिवर्तन होना ही राष्ट्र का परिवर्तन है।

हिंसात्मक युद्ध और अहिंसात्मक युद्ध मे क्या भेद है ?

हिंसात्मक युद्ध किसी प्रकार विजय प्राप्त नही कर सकता, क्योंकि शरीररूपी क्षेत्र के तोड़ देने से विचारो का समुदाय मिटाया नही जा सकता। अत. हिंसात्मक युद्ध से जो राष्ट्र आज छिन्न-भिन्न दिखाई देता है, वही कालान्तर में घोर प्रबलतापूर्वक पुन. युद्ध करने के लिये समर्थ होता है, क्योंकि उसकी युद्ध की भावना नष्ट नही हुई थी। मरने वाला प्राणी पुनः मारने के लिये प्रकृति माता से शक्ति लेकर उत्पन्न होता है। अत. हिंसात्मक युद्ध से विजय किसी प्रकार नही हो सकती।

अहिंसात्मक युद्ध से शरीररूपी क्षेत्र को नही तोड़ा जाता, बल्कि युद्ध की भावना को मिटाया जाता है। अत. अहिंसात्मक युद्ध से विजय प्राप्त हो सकती है।

सत्याग्रह करने पर क्या दूसरो को दु:ख नही होता ? यदि होता है तो अहिंसा कैसी ?

सत्याग्रह से जो दु.ख दिखाई देता है, वह दुखी की भूल से उत्पन्न होता है, सत्याग्रही से नही, क्योंकि सत्याग्रही के हृदय में दु.ख देने का भाव नही है और न दु.ख देने की क्रिया है, जिस प्रकार प्रह्लाद के हृदय में नृसिंह भगवान के अवतार का भाव नही था,

वह तो केवल अपने भाव मे निष्ठा रखता था। नृसिंह भगवान् के स्वरूप मे तो हिरण्यकशिपु का दोष प्रकट हुआ था।

जिस रोगी को औषधि लाभ नही कर पाती, उसको प्रकृति माता अपने मे विलीन कर स्वास्थ्य प्रदान करती है। उसी प्रकार जो सत्याग्रह से नही बदलता, उसके बदलने के लिये प्रकृति माता नृसिंह भगवान् के समान आसुरी स्वभाव को धारण कर, सुधार-युक्त नवीन जीवन के लिये अपने मे विलीन कर लेती है।

क्या प्रायश्चित से पाप मिट जाता है ? पर्याप्त प्रायश्चित होने पर निसन्देह पाप मिट जाता है। प्रायश्चित करने का वही अधिकारी है जो फिर पाप नहीं करता और जितना रस उस पाप से उत्पन्न हुआ था, उससे कही अधिक व्याकुल होता है।

प्यारे, कर्म का जो अदृश्य है, अर्थात् करने का जो संस्कार अंकित हो गया है, प्रायश्चित का सकल्प उस सस्कार को खा लेता है। अत निसन्देह प्रायश्चित से क्रियमाण मिट जाता है।

साधन में सफलता क्यो नहीं प्राप्त होती है ? गहराई से देखो जिस प्रकार तृपा-युक्त प्राणी को पानी मिलने पर प्यास की शांति स्वाभाविक हो जाती है और वह प्राणी पानी भी पी लेता है, क्योकि आवश्यकतानुसार मिला था, उसी प्रकार जब साधन-कर्त्ता के अनुकूल साधन मिल जाता है, तब वह जीवन का स्वरूप भी हो जाता है और उसमें सफलता भी हो जाती है। साधन मे सफलता न होने का कारण यही है कि कर्त्ता साधनकरने से प्रथम अपना निरीक्षण

नही करता, अर्थात् अपनी आवश्यकता को नही जान पाता। यदि जान भी लेता है, तो उसको स्थायी नही कर पाता। यदि स्थायी भी कर लेता है, तो अनुकूल साधन की खोज नही करता। इन सब कारणों से ही साधन मे सफलता नही होती।

कल्पना करो कि नाम तथा मन्त्र आदि के जप मे मन नही लगता। इसका कारण क्या है ? या तो वह साधक उससे ऊपर के साधन का अधिकारी है, या उससे नीचे का । यदि जप का अधिकार होता, तो जप में अवश्य मन लग जाता और सफलता भी हो जाती। किन्तु अधिकार के अनुकूल साधन न होने के कारण उसमें सद्भाव तथा प्रवृत्ति नही होती । प्रवृत्ति न होने का कारण साधन की प्रतिकूलता है । दोषों का त्याग करते ही गुणो का उदय अपने-आप हो जाता है। यदि किसी की अशुभ प्रवृत्ति है, तो उसको प्रथम उसका त्याग करना होगा। उसका त्याग करते ही शुभ प्रवृत्ति स्वय हो जायगी । अशुभ प्रवृत्ति वाला उपासना का अधिकारी नही है, क्योकि उपासना करने के लिए पूर्ण आस्तिकता होनी चाहिये । पूर्ण आस्तिकता का उदय तब होता है, जब शुभ कर्म भी कर्त्ता को शाति नही दे पाते ।

विचार-मार्ग का अनुसरण करने का वह अधिकारी है जो किसी प्रकार की मानी हुई सत्ता की स्वीकृति नही करता, अर्थात् सभी मानी हुई सत्ताओ का त्याग करता है, जिसको कोई भी परिस्थिति रस नहीं दे पाती, अर्थात् जिसकी विषय-निवृत्ति स्वाभाविक है तथा जो वर्तमान मे ही सत्य का अनुभव करने में समर्थ है, अर्थात् जिसको भविष्य की आशा नही है, यहाँ तक कि जिसे अपने विचारो मे भी आसक्ति का लेश नहीं है,

बल्कि यथार्थ निर्णय करने का भाव है, और जिसके राग-द्वेष का नितान्त अन्त हो गया है, क्योंकि यथार्थ निर्णय करने के लिये राग-द्वेप रहित बुद्धि चाहिये। राग दोष नहीं देखने देता तथा द्वेष गुण नही देखने देता। अत: जो सत्य मे प्रवृत्ति और असत्य की निवृत्ति में सर्वदा उद्यत है, वह विचार मार्ग का अधिकारी है।

अनुकूल साधन मिलने पर भी यदि प्रमाद-वश साधक साधन को जीवन का स्वरूप नही बनाता और साधन मे सद्भाव नही करता तथा अपने को बचाता है, अर्थात् पूरी शक्ति नहीं लगाता अथवा अदृश्य की मलिनता के कारण, कोई विक्षेप होने के कारण, साधन का त्याग कर देता है, तो भी सफलता नही पाता। अत: साधक को प्रमाद से तथा विक्षेप के भय से साधन का त्याग नही करना चाहिये।

साधन का परिवर्तन करना भी साधक की ही कमी है, जैसे एक मन्त्र को छोडकर दूसरे मन्त्र का जप करना आदि।

साधन की खोज करने के लिए साधक के हृदय मे सच्ची व्याकुलता होनी चाहिये, क्योंकि व्याकुलता की आवाज सद्गुरु के हृदय को मजबूर कर देती है। अधिकारी का अधिकार उसी प्रकार प्रतीक्षा करता है, जिस प्रकार अधिकारी अधिकार की करता है। सच्चे साधक को अनुकूल साधन अवश्य ही प्राप्त होते हैं। अत: साधक को कभी निराश नही होना चाहिये। बल्कि व्याकुलता बढ़ाते रहना चाहिये।

कर्तव्य का जन्म कैसे होता है ? अहं के अनुसार कर्तव्य का विधान होता है, क्योंकि अहं के परिवर्तन से कर्तव्य

का परिवर्तन हो जाता है । कर्तव्य और अहं का एक स्वरूप होने पर कर्त्ता आदर पाता है और अन्त मे उस कर्तव्य से मुक्त भी हो जाता है । अहं का अन्त होने पर कतव्य का अन्त हो जाता है । अतः कर्तव्य माने हुए अह की रक्षा करता है और माना हुआ अह कर्तव्य का विधान करता है ।

—*—

सन्त-वाणी

प्रथम शरीर को देखो कि वह क्या है ? फिर संसार को देखो, अपने को देखो और ईश्वर को देखो ।

—*—

३ अप्रेल १९४१

मल-दोष क्या है ?	अपनी पूर्ति के लिये शरीर तथा ससार की आशा करना ही मल-दोष है ।
मल-दोष की निवृत्ति कैसे होती है ?	प्रेम-पात्र के नाते से सेवाभाव पूर्वक नियमानुसार कर्म करने पर मल दोष की निवृत्ति होती है ।
भेद उपासना तथा अभेद उपासना में क्या अन्तर है ?	भेद उपासना करने वाला भक्त अपने प्रेम-पात्र को अपने से भिन्न किसी प्रतीक मे अनुभव करता है, इसी कारण तन्मयता आदि भाव-जन्य रस का अनुभव होने पर भी उसमे वियोग का रस रहता है

तथा उसे स्वभाव से ही निरन्तर स्मरण, चिन्तन और ध्यान भी होता रहता है । परन्तु अभेदोपासक अपने प्रेम-पात्र को अपने में ही अनुभव करता है, अर्थात् शरीर

भाव का अन्त कर देता है । इसी कारण चिन्तन-रहित स्थिति को प्राप्त कर अभेद के आनन्द का अनुभव करता है । उसके लिये करने का तथा वियोग का नितान्त अन्त हो जाता है ।

कृपापात्र कौन हो सकता है ? गहराई से देखो, कृपा-पात्र वही है जो सिर्फ एक ही कृपालु की कृपा की आशा करता है और जो अपनी सारी शक्ति समर्पण कर केवल कृपा पर ही पूर्ण भरोसा करता है । अतः एकमात्र जिसका कृपा ही सहारा है, वही कृपापात्र है । ऐसे कृपापात्र पर कृपा करने के लिए कृपालु मजबूर हो जाते हैं । कृपा-पात्र मे करने की शक्ति शेष नही रहती, क्योकि उसके सभी साधन कृपा में विलीन हो जाते हैं । कृपा का सहारा वही करते है, जो अपने प्रेम-पात्र के प्रभाव को पूर्णतया जानते हैं ।

—※—

सन्त-वाणी

साधन ही साधक का जीवन है । साध्य की अनुभूति होने पर ही साधक तथा साधन का अन्त होता है । साधक का जीवन होते हुए साधन का अन्त नही होना चाहिये, क्योकि ये दोनो अभेद हैं । जो साधन साधक का जीवन नही होता वह वास्तव में साधन नही है ।

—※—

ईश्वर मानने की जीवन में कोई आवश्यकता नहीं है । यह बिल्कुल ठीक है कि ईश्वर मानना नहीं चाहिये, वल्कि जानना अवश्य चाहिये । माने हुए ईश्वर की कोई आवश्यकता नही है । क्या आप अपनी अभिलाषाओ की पूर्ति

में समर्थ है ? यदि नही हैं, तो अभिलाषा किसके सामने प्रकट करते हो ? अभिलाषा का होना ही अपने मे विशेष सत्ता की स्वीकृति का सूचक है, क्योकि अभिलाषा-काल मे सभी दीन होते है, जो अभिलाषा मिटायी नही जाती, उसका पूर्ण होना अनिवार्य है।

यदि यह कहो कि अभिलाषा कुछ नही है, तो यह बताओ कि अभिलाषा-रहित आपका क्या स्वरूप है ? अभिलाषा-रहित अभिलाषी की कोई सत्ता शेष नही रहती । अभिलाषा की पूर्ति के लिये अभिलाषी तथा अभिलाषो का बनाया हुआ सगठन असमर्थ है, और अभिलाषी होते हुए अभिलाषो का दुःख मिट नही सकता। अतः दुःख हरने के लिये दु खहारी हरि का होना परम आवश्यक है, अर्थात् ईश्वर ही जीवन का परम आवश्यक तत्व है। जिसकी अभिलाषा है, वही ईश्वर का स्वरूप है। अभिलाषा के पूर्ण होने पर अभिलाषी की सत्ता शेष नहीं रहती, अर्थात् वह प्रेम-पात्र से अभिन्न हो जाता है । अतः ईश्वर होकर ही ईश्वर का अनुभव होता है। ईश्वर माना नही जाता बल्कि जाना जाता है ।

राग और द्वेष क्या है ? गुण होते हुए भी अपना न सके, यही द्वेष है, और दोष होते हुए भी त्याग न सके यही राग है ।

राग किससे करते हैं और द्वेष किससे करते है ? साधारण प्राणी शरीर आदि मे अनेक दोष होते हुए भी शरीर आदि का त्याग नही करते। यद्यपि अभिलाषा निर्दोष तत्व की है, किन्तु राग के कारण जिसका त्याग करना चाहिये, नहीं कर पाते। सत्य (ईश्वर) मे अनन्त गुण होते हुए भी साधारण प्राणी उससे अभिन्न नही हो पाते, अर्थात् उससे द्वेष करते हैं, यद्यपि

चाहिये प्रेम करना। शरीर आदि का त्याग और सत्य का प्रेम वास्तव मे पूर्ण जीवन है।

पाप क्या है ?

(१) अपनी प्रसन्नता अपने से भिन्न किसी अन्य के आश्रित जीवित रहे, यही पाप है। यद्यपि यह बात सुनने मे अजीव सी मालूम होती है, किन्तु है सब प्रकार से सत्य। गहराई से देखो, पापयुक्त प्रवृत्ति कब होती है ? जब हमको अपने से भिन्न की आवश्यकता होती है। अपने से भिन्न की आवश्यकता कब होती है ? जब हम अपने मे सीमित भाव (शरीर आदि) मान लेते हैं। सीमित भाव मानते ही आस्तिकता का अन्त हो जाता है, क्योकि जिसकी (निज-स्वरूप) सत्ता हर काल मे है और जो स्वाभाविक परम प्रिय है, उसका त्याग कर हम अपने को अनेक कल्पनाओं मे बाँधकर, अनन्त वासनाओ के जाल में फँस जाते हैं। भला बताओ तो सही, इससे बड़ा पाप और क्या होगा।

(२) अपने को जिस कल्पना मे बाँध लिया हो उसके विपरीत करना पाप की प्रवृत्ति है, क्योकि संस्कार-युक्त (वर्णाश्रम के अनुकूल) अहं की रक्षा करना कर्त्तव्य है। उसकी रक्षा न करना, की हुई कल्पना के विपरीत है, अतः पाप है, क्योकि अहं के अनुसार क्रिया करने पर ही उस अहं से पार हो सकता है, अतः इस दृष्टि से भी अहं के विपरीत क्रिया करना पाप है।

(३) जो सीमित की ओर ले जाय वही पाप है।

पुण्य क्या है ?

अपनी प्रसन्नता के लिये अपने से भिन्न किसी की ओर न देखना अर्थात् अपने मे

ही अपने प्रेम-पात्र का अनुभव करना, यही परम पुण्य है ।

(२) जिसको अपनी ओर से जैसा मान लिया है, उसके प्रति उसके हित के लिये अपने माने हुए भाव के अनुसार सेवा करना पुण्य है ।

(३) जिससे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति हो वही पुण्य है ।

—※—

सन्त-वाणी

यदि कोई कार्य ऐसा हो जिससे शारीरिक उन्नति होती हो, किन्तु मानसिक अवनति, तो ऐसी अवस्था मे मानसिक उन्नति का अधिक ध्यान रखना चाहिये और मानसिक उन्नति की अपेक्षा आत्मिक उन्नति का अधिक ध्यान रखना चाहिये, क्योकि आत्मिक उन्नति होने पर और किसी उन्नति की आवश्यकता नही रहती और मानसिक उन्नति होने पर शारीरिक उन्नति की आवश्यकता नही रहती ।

विषयासक्त होने पर जीवन की जो अवस्था होती है, वही पशु जीवन है, क्योकि उस अवस्था मे स्वतन्त्रता लेशमात्र भी शेप नही रहती । पराधीनता जीवन का स्वरूप हो जाती है ।

जिसका जीवन दूसरों की पूर्ति के लिये है, अर्थात् जिसने शरीर को ससार के हित में लगा दिया है, उसका जीवन मानव जीवन है, क्योकि ऐसा जीवन होने पर ही विषयासक्ति का अन्त हो जाता है ।

शरीर संसार के लिये और अपने को सत्य के लिये समर्पण करने पर ईश्वरीय जीवन का आरम्भ होता है । इस जीवन का स्वरूप क्या है ? उसका कथन सिर्फ सकेतमात्र है, क्योकि वाणी आदि में कथन करने की शक्ति नही है । सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि ईश्वरीय जीवन से ही जीवन की पूर्णता सिद्ध होती है ।

राग-द्वेष-युक्त जीवन अपूर्ण है । त्याग-प्रेम-युक्त जीवन पूर्ण है । त्याग करने योग्य वस्तुओ का त्याग न करने पर राग उत्पन्न होता है । प्रेम-पात्र से (जो निर्दोष तत्व है) प्रेम न करने पर द्वेष उत्पन्न होता है । राग त्याग से और द्वेष प्रेम से मिट जाता है । त्याग से असगता और प्रेम से अभिन्नता होती है । प्रेम प्रेम-पात्र से तथा त्याग ससार का होता है । जो इसके विपरीत करते है, वे वेचारे दीनता तथा अभिमान की अग्नि मे जलते रहते हैं ।

प्रेम प्रेम-पात्र का स्वरूप है, ससार का नही, क्योकि चाह-युक्त प्राणी प्रेम नही कर सकता ।

विषयी विपयो की पूजा करता है, इसलिए दीन होता है । प्रेमी प्रेम-पात्र की पूजा करता है, इसलिये पूर्ण होता है, क्योकि प्रेम-पात्र स्वतन्त्र और विषय परतन्त्र है । परतन्त्र का पुजारी परतन्त्रता और स्वतन्त्रता का पुजारी स्वतन्त्रता पाता है ।

जो शरीर आदि वस्तुएँ निरन्तर त्याग कर रही हैं, उनका त्याग करने पर उनकी ओर (प्रेम-पात्र की ओर) अपने आप ही हो जाओगे । अथवा यो कहो कि वह स्वय अपना लेगे । त्याग क्रिया नही है, बल्कि असगता है । क्रिया रूप से तो सभी का त्याग हो ही जाता है, किन्तु राग के कारण स्वरूप से त्याग

होने पर भी त्याग नही होता। सच्चा त्याग जीवन मे ही हो सकता है, क्योकि राग अविचार से उत्पन्न हुआ है, अतः विचार से मिट जाता है।

दुखी तथा दीन में काफी भेद है। दीन वर्तमान परिस्थिति पर सन्तुष्ट-सा रहता है, अर्थात् उसे बदलने मे भय करता है और दुखी वर्तमान परिस्थिति बदलने के लिये सब कुछ करता है, अर्थात् उस परिस्थिति को किसी प्रकार रहने नही देता। अतः दीन दीनता की अग्नि मे जलता रहता है और दुखी आनन्द पाता है।

—※—

परिभाषाएँ

ईश्वर—जिसके बिना मिले परम शान्ति नही पाते हो, वही ईश्वर है।

भजन—उनके बिना किसी प्रकार भी चैन से न रहो, यही भजन है।

उन्नति का मूल—व्याकुलता ही उन्नति का परम मूल है।

आनन्द—जो होकर मिट जाता है, उसको आनन्द समझना भूल है। आनन्द आ जाने पर मिटता नही, अर्थात् जो मिट जाता है, वह आनन्द नही बल्कि मन की थकावट है।

यथार्थ ज्ञान—उससे अभिन्न हो जाना ही यथार्थ ज्ञान है।

विचार—मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति ही विचार है, क्योकि विचार से अवास्तविक सत्ता का निराकरण होता है।

योग—अपने मे आनन्दघन भगवान् की स्थापना कर, अपना

सब कुछ उनके समर्पण कर देना, अर्थात् भोग-भाव का अभाव कर देना ही योग है ।

साधन—जो क्रिया अपनी आवश्यकता पूर्ति मे समर्थ है, वही साधन है ।

नोट—साधन सभी ठीक होते हैं, परन्तु सफलता साधक की योग्यता पर निर्भर है। एक समय मे अनेक प्रकार के साधन करना भूल है। जो साधन सबसे अधिक प्रिय मालूम हो, उसके सिवा और सब साधनो को छोड दो, क्योकि कोई भी राहगीर एक काल मे दो रास्तो पर नही चलता ।

उत्तम साधन—रोना ही सर्वोत्तम साधन है, क्योंकि आँसुओ की धार मे माना हुआ अहभाव बह जाता है ।

नोट—रोना सर्वोत्तम साधन इसलिये है कि उसे करने मे प्रत्येक साधक सर्वथा स्वतन्त्र है । रोने की पूर्णता सभी दोषो को मिटाने मे समर्थ है । जो रोना दोष को निवृत्त किये बिना चला जाता है, वह वास्तव मे रोना नही है । रोना उसी प्राणी को आता है, जो अपना मूल्य ससार से अधिक कर लेता है, क्योकि बिना असहाय हुए रोना नही आता । पूर्ण तत्व के अतिरिक्त सभी रोते हैं । विचारशील को विचार, प्रेमी को प्रेम, योगी को योग, शक्तिहीन को शक्ति और निर्बल को बल प्रदान करने मे रोना ही समर्थ है।

सच्चा तप—जिससे निर्बलता न रहे, वही सच्चा तप है, जो आगे पीछे का चिन्तन न करने पर प्राप्त होता है, क्योकि व्यर्थ चिन्तन मिट जाने पर मन अविषय हो जाता है। अविषय होते ही अनन्त शक्ति से सम्बन्ध होता है। उससे आवश्यक शक्ति लेकर कर्ता निर्बलता का अन्त कर देता है, जो वास्तव मे तप का

फल है। इस दृष्टि से आगे पीछे का चिन्तन न करना तथा एक समय मे एक ही कार्य करना सच्चा तप है।

परम धन—व्याकुलता ही परम धन है, जिसे यह मिल जाता है, वह सब कुछ पा लेता है।

निर्बल—निर्बल वही है, जिसका बल ससार की सहायता पर जीवित है। यदि सबल होना चाहते हो, तो संसार की सहायता का त्याग कर दो।

सच्चा भजन—व्याकुलतापूर्वक स्मरण करना ही सच्चा भजन है, और उनकी रजा मे राजी रहना ही परम भक्ति है।

सत्य का अनुभव—सत्य की अभिलाषा और सब अभिलाषाओ को मिटाकर अपने आप मिट जाती है। बस उसी काल में सत्य का अनुभव हो जाता है।

सत्य की अभिलाषा कीउत्पत्ति—यद्यपि सत्य की अभिलाषा स्वाभाविक है, परन्तु अस्वाभाविक अभिलाषाओ की आसक्ति के कारण छिप सी जाती है। अत: स्वाभाविक अभिलाषाओ का अन्त कर देने पर स्वाभाविक अभिलाषा जागृत होती है।

असत्य ज्ञान—मानी हुई सत्ताओ की स्वीकृति के आधार पर बुद्धि आदि का व्यापार ही असत्य ज्ञान है।

अभेद—किसी प्रकार की दूरी का शेष न रहना ही अभेद है।

नोट—अभेद जातीय सत्ता से होता है। गहराई से देखो विषयो मे अत्यन्त आसक्ति होने पर भी प्राणी सुपुप्ति आदि मे विषयो का त्याग करने को मजबूर होता है, क्योकि विषयसत्ता से मानी

हुई एकता है, जातीय नहीं। विषयी आनन्द का अभिलाषी होता है, क्योंकि आनन्द मे उसकी जातीय एकता है। अत. उसका आनन्द से अभेद हो सकता है, विषय से नहीं। विषयी अविचार से शक्तिहीनता को आनन्द मान लेता है, यह उसकी बुद्धि का प्रमाद है।

दु:ख की निवृत्ति—किसी प्रकार की कमी का शेष न रहना ही दु ख की निवृत्ति है।

नोट—यदि दु ख पूरा हो गया होता, तो जरूर मिट जाता। अत. अभी दु ख की कमी है। हृदय की दुर्बलता से दु ख अधिक मालूम होता है, है नही। जिस प्रकार जीवन की पूर्णता मृत्यु मे अपने आप बदल जाती है, उसी प्रकार दु ख की पूर्णता आनन्द मे बदल जाता है। दु खरूप अग्नि सुखरूप लकड़ी को जलाने के लिये उत्पन्न होती है। देखो, लकड़ी न रहने पर अग्नि अपने आप शान्त हो जाती है। उसी प्रकार सुख न रहने पर दु:ख अपने आप शान्त हो जाता है।

आनन्द—सुख तथा दु ख का अभाव होने पर जो शेष रहता है, वही आनन्द है।

नोट—सुख तथा दु:ख बुद्धि आदि का विषय है, इसी कारण मिट जाता है। आनन्द निज स्वरूप है, इसी कारण नही मिटता।

मन—वासनाओ के समूह का नाम ही मन है।

नोट—सभी वासनाओ का अन्त करने पर मन मिट जाता है और फिर काम, क्रोध मोह आदि विकार शेप नही रहते। वासनाओ का अन्त यथार्थ ज्ञान से होता है। ज्ञान हृदय शुद्ध होने पर होता है। हृदय त्याग और प्रेम से शुद्ध होता है। शरीरादि

किसी वस्तु को अपना न समझना त्याग है और आनन्दघन भगवान् से किसी प्रकार की दूरी न रहना प्रेम है। त्याग होने पर प्रेम अपने आप आ जाता है।

प्रेम-पात्र से स्थायी संग—प्रेम-पात्र को कुछ लोग महात्माओं मे देखते हैं, कुछ तीर्थ तथा मूर्तियो में, कुछ नाम, मंत्र, शास्त्रादि में और कुछ षट् चक्र, हृदय, शब्द आदि मे देखते है। उन सभी महानुभावो का उससे संयोग होने पर वियोग अवश्य होता है, क्योकि वे अपने को बचाकर रख लेते हैं, इसलिये स्थायी सग नही कर पाते। और जो अपने प्रेम-पात्र को अपने में अनुभव करते हैं, उनको वियोग का दु ख उठाना नही पडता। अपने से भिन्न कितना ही समीप क्यो न देखिये, फिर भी वियोग अवश्य होगा। अत: प्रेम-पात्र को अपने मे अनुभव करने से उनसे स्थायी संग हो जाता है। प्रेम-पात्र को अपने से भिन्न में वही देखते है, जो विषयो की सत्ता का त्याग नही कर सकते। इसी कारण विषयी बेचारा प्रेम-पात्र की खोज करने के लिये ससार मे भटकता है।

प्रेम-पात्र--जिसके बिना प्रेमी किसो प्रकार भी नही रह सकता वही प्रेम-पात्र है। गहराई से देखो, जिनके बिना प्रेमी किसी भी प्रकार रह सकता है, वह प्रेम-पात्र नही है, क्योकि त्याग उनका होता है, जिनसे मानी हुई एकता होती है। शरीर आदि सभी का त्याग हो जाता है, क्योकि इनसे मानी हुई एकता है। जिसको शरीर आदि की सभी अवस्थाओ का अनुभव है,

वह अनुभव-स्वरूप नित्य-सत्ता ही प्रेमी का प्रेम-पात्र है, क्योकि नित्य की अभिलाषा ही प्रेमी का स्वरूप है। अतः प्रेम-पात्र की अभिलाषा का नाम ही प्रेमी है, क्योकि प्रेम-पात्र का अनुभव होने पर प्रेमी की सत्ता शेष नही रहती। किसी भी प्रेमी ने प्रेमी वन कर प्रेम-पात्र नही देखा, क्योकि प्रेम-पात्र के वियोग मे प्रेमी होता है। प्रेम-पात्र वही है जो प्रेमी को देखता है।

अक्रियता—किसी प्रकार की कामनाओ का शेष न रहना ही अक्रियता है, क्योकि आप्तकाम अक्रिय होता है। आवश्यक कामनाओ की पूर्ति और अनावश्यक कामनाओ की निवृत्ति होने पर आप्तकाम हो जाता है।

पत्र-पुष्प

सत्य की खोज

१—सत्य का स्वरूप क्या है ?

२—सत्य की आवश्यकता क्यो है ?

३—सत्य की प्राप्ति का साधन क्या है ?

४—सत्य का अधिकारी कौन है ?

सत्य की खोज करने वाले महानुभावों को चाहिये कि ऊपर लिखे प्रश्नों का विचारपूर्वक उत्तर समझले ।

(१) सत्य का स्वरूप क्या है ?

यदि इस पर विचार किया जाय, तो यही मालूम होता है कि सत्य का वास्तविक स्वरूप अनुभव करने के लिये असत्य का स्वरूप जान लेना परम आवश्यक है, क्योकि जिसे रात्रि का ज्ञान नही होता, उसको भला दिन का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ? अतः असत्य का यथार्थ ज्ञान होने पर ही सत्य का अभिलाषी सत्य को जान सकेगा। जो असत्य को नही जान सकता, वह सत्य को भी नही जान सकता। संसार का सभ्य समाज गुणो को सत्य और दोषो को असत्य कहता है, क्योकि दोषो पर गुण शासन करते है—जैसे स्थिरता चचलता पर, सदाचार दुराचार पर, योग भोग पर, प्रेम द्वेष पर, त्याग राग पर, संयम असयम पर, आनन्द दुख पर, चैतन्य जड़ पर और अहिंसा हिंसा पर। यदि यह विचार किया जाय कि गुण दोषो पर क्यो शासन करते हैं, तो इसका उत्तर यही होगा कि गुण

दोप की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। जिस प्रकार आँख का देखना यदि स्वाभाविक ही रहे, अर्थात् उस क्रिया मे कर्त्ता किसी प्रकार का भाव न वनाये, तो फिर देखना कभी दोप नही कहा जाता। वह दोप तव वनता है, जब देखे हुए रूप से सुख प्राप्त करने की अभिलापा उत्पन्न होती है। यद्यपि सुख मिल नही सकता, परन्तु अविचार के कारण वेचारी आँख रूप मे सुख की खोज करती है, इसलिये अन्त मे दुखी होती है और जिससे दुख हो वही दोष है। इसलिये इन्द्रियो की स्थिरता हो जाने पर चंचलता मिट जाती है। देखो, उस व्यक्ति को फिर ससार आदर की दृष्टि से देखता है और जो इन्द्रियो का सयम नही कर सकता, उसको संसार निरादर के भाव से देखता है। इसी नियम के अनुसार प्रत्येक गुण प्रत्येक दोष पर विजय प्राप्त कर लेता है। ससार को गुणयुक्त जीवन की सर्वदा आवश्यकता रहती है। यदि संसार में गुणयुक्त जीवन व्यतीत करना हो तो गुणों का संग्रह करना परम आवश्यक है, यद्यपि सत्य का वास्तविक स्वरूप गुण और दोप दोनो से परे है, क्योकि गुणों के आ जाने पर भी कमी शेष रहती है। अत. जो सव प्रकार से पूर्ण है, अर्थात् जिसमें किसी प्रकार का दोप नही, वही सत्य का स्वरूप है। सत्य के स्वरूप का कथन नही किया जा सकता, वल्कि उसका स्वय अनुभव किया जा सकता है, क्योकि कथन करने वाले सभी साधन अपूर्ण है। अपूर्ण कभी पूर्ण का कथन नही कर सकता। सत्य का स्वरूप व्यक्तित्व से अतीत है। सत्य अपने आपको प्रकाशित करता है। यदि कहा जाय कि गुणो के आ जाने पर

कमी क्यो शेष रहती है, तो इसका उत्तर यही होगा कि गुण भी एक प्रकार की प्रवृत्ति है और गुणो का उपभोग करने के लिये दूसरे अनेक प्रकार की वस्तुओ की आवश्यकता होती है। यदि किसी में दोष न हो, तो फिर गुणो के अभिमानी का गौरव कुछ अर्थ नही रखता, अर्थात् गुणो का जो कुछ मूल्य है, वह दोषों की कृपा पर है। यह सभी महानुभावों का अनुभव होगा कि कोई भी प्रवृत्ति स्थिर अर्थात् नित्य नही है, और नित्यता का न होना महान् दोष है। अतः गुणो के आ जाने पर भी कमी शेष रहती है। विचारदृष्टि से देखो, कि यदि दया का गुण है, तो उसकी पूर्ति के लिये दीन की आवश्यकता है, अर्थात् किसी भी गुण का स्वतन्त्र उपभोग नही किया जा सकता। यद्यपि संसार मे गुणो का उपभोग करने के लिये सदैव सामग्री उपस्थित रहती है, परन्तु जब ससार की कोई भी अवस्था किसी भी काल मे स्थिर नही रहती तो फिर गुणो का उपभोग करने वाला किस प्रकार स्थिरता पा सकता है ?

(२) सत्य की आवश्यकता क्यो है ?

यदि इस पर विचार किया जाय तो यही उत्तर होगा कि आवश्यकता उस वस्तु की होती है, जिसके बिना किसी प्रकार न रह सके। सभी महानुभाव स्थायी प्रसन्नता चाहते हैं। जब ससार की कोई अवस्था स्थाई प्रसन्नता नही दे पाती, तो उसका अभिलाषी ससार का त्याग करने के लिये मजबूर हो जाता है। यदि विचारशील पुरुष अपनी अभिलाषाओं की जाँच करे, तो उनको यह भली प्रकार मालूम हो जायगा कि अभिलाषाएँ केवल दो प्रकार की होती हैं—एक शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये और

दूसरी सब प्रकार से पूर्ण होने के लिये। शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये कर्म तथा ससार की आवश्यकता होती है। ससार तथा कर्म की सहायता से पूर्णता किसी प्रकार नही मिल सकती, क्योकि ससार की कोई भी अवस्था पूर्ण नही है। जिस प्रकार गोल चक्र मे चलने वाला पथिक कभी मार्ग का अन्त नही पाता, उसी प्रकार ससार की ओर जाने वाला कभी शान्ति तथा पूर्णता नही पाता। अतः स्थायी प्रसन्नता तथा पूर्णता के लिये सत्य की आवश्यकता होती है।

(३) सत्य की प्राप्ति का साधन क्या है ?

इस प्रश्न का उत्तर यही होगा कि सद्भावपूर्वक सत्य की अभिलाषा ही सत्य का मार्ग है। जिस प्रकार बड़ी मछली सब छोटी मछलियो को खाकर स्वयं मर जाती है, उसी प्रकार सत्य की अभिलाषा सभी अभिलाषाओ को मिटाकर अन्त मे अपने आप मिट जाती है। बस, उसी काल मे सत्य का अनुभव हो जाता है। सत्य की प्राप्ति के लिये किसी सगठन की आवश्यकता नही, बल्कि सभी सगठन मिटाने होगे। यदि कहा जाय कि सत्य की अभिलाषा किस प्रकार उत्पन्न होती है, तो इसका उत्तर यही होगा कि आपने अपने को जिस कल्पना में बाँध लिया है, उसके अनुसार कर्म करो और अनावश्यक कार्यों का त्याग करो। आवश्यक कार्य पूरा होने पर सत्य की अभिलापा स्वय उत्पन्न होगी। जो आवश्यक कार्य पूरा नही करते और अनावश्यक कार्यों को हृदय में इकट्ठा रखते हैं, उनको सत्य की अभिलाषा सद्भावपूर्वक उत्पन्न हो, ऐसी फुर्सत नही मिलती। वे बेचारे आगे पीछे का व्यर्थ चिन्तन करते रहते हैं। यदि यह कहा जाय कि आवश्यक कार्य क्या

है, तो इसका उत्तर यही होगा कि जिस कार्य के बिना न रह सको, जिसे करने का साधन प्राप्त हो तथा जिसके करने में किसी प्रकार का भय न हो, वही आवश्यक कार्य है। कर्त्ता अपने कर्त्तव्य का पालन करने पर स्वयं उन्नति कर जाता है। अतः उन्नति के लिये निराश होना परम भूल है। जीवन की परि-स्थिति चाहे जैसी क्यो न हो, सत्य के अनुभव के लिये सभी मनुष्य समर्थ है। विचारदृष्टि से देखो, जिस प्रकार राजा का सम्बन्ध राज्य की सभी वस्तुओ से है, उसी प्रकार सत्य का सम्बन्ध सभी से है। जो अपने बनावटी स्वभाव को मिटा देता है, सत्य का अनुभव कर लेता और जो अपने स्वभाव को नही मिटाता या नही मिटा पाता, वह सत्य को किसी प्रकार नही पा सकता। सत्य संसार की सहायता से नही मिल सकता। यदि गुणो का अभिमानी अपने गुणाभिमान को नही मिटा सकता, तो वह सत्य को नहीं पा सकता। यदि महान् पतित अपने पतित स्वभाव को मिटा देता है, तो वह सत्य को पा लेता है। यद्यपि संसार की दृष्टि से गुणयुक्त जीवन सर्वदा पूजनीय है, तथापि गुणो के अभिमान के कारण मनुष्य सत्य से विमुख रहता है। यह भली प्रकार समझ लो कि जिसे ससार किसी प्रकार प्रसन्नता नही दे पाता, वह भी सत्य को पाकर अपार आनन्द पाता है। ससार का कोई व्यक्ति अपने प्यारे से प्यारे को अपने समान नही बना सकता, जिस प्रकार कोई भी राजा किसी को राजा नही बना सकता; परन्तु सत्य का अभिलाषी सत्य को पाकर सत्य के साथ अभिन्न हो जाता है। व्यक्तित्व की गुलामी का त्याग ही सत्य का साधन है।

यदि यह कहा जाय कि व्यक्तित्व की गुलामी का त्याग किस प्रकार किया जाय, तो इसका उत्तर यही होगा कि जो अपने व्यक्तित्व को मिटा देता है,उसे फिर किसी भी व्यक्ति की गुलामी की आवश्यकता नही होती, क्योकि व्यक्तित्व को ही व्यक्ति की आवश्यकता होती है। यदि यह कहा जाय कि व्यक्तित्व किस प्रकार मिटाया जाय, तो इसका उत्तर यही होगा कि मिटाई वही वस्तु जाती है जो वास्तव मे न हो, अर्थात् जिसका कोई स्वरूप न हो, परन्तु अविचार के कारण प्रतीत होता हो। देखो, आप अपने मे जो व्यक्तित्व अनुभव करते है, क्या आपने उसे कभी देखा है ? तो आप यह कहने के लिये मजबूर हो जायेगे कि हमने अपने व्यक्तित्व को सुनकर स्वीकार कर लिया है,देखा नही। यदि यह कहो कि शरीर का व्यक्तित्व तो देखने मे आता है तो उसका उत्तर यही होगा कि शरीर तो ससार से अभिन्न है, उसमें आपका क्या ? विचारदृष्टि से देखो, कि जिस शरीर को आप अपना समझते है, वह वास्तव मे सारे ससार से एक है, क्योकि शरीर तथा ससार अग तथा अगी के समान हैं। अग तथा अगी मे स्वरूप मे एकता तथा माना हुआ भेद होता है। जिस प्रकार भारतवर्ष के अनेक प्रान्त भारतवर्ष से अभिन्न है,उसी प्रकार शरीर संसार से अभिन्न है। अतः सुने हुए व्यक्तित्व को विचाररूपी अग्नि में जला दो। व्यक्तित्व के मिटते ही गुलामी का अन्त हो जायगा और सत्य का मार्ग दिखाई देगा। सत्य का मार्ग इतना सकीर्ण है कि सत्य का अभिलाषी स्वय अकेला ही जा सकता है, यहाँ तक कि मन, बुद्धि आदि तक का साथ छोड़ना होगा, क्योकि संगठन का मिटाना ही सत्य का साधन है।

(४) सत्य का अधिकारी कौन है ?

जिसको प्रसन्नता देने के लिये ससार असमर्थ है, अर्थात् जिसको भोग में रोग, हर्ष में शोक, सयोग मे वियोग, सुख मे दुःख, घर मे बन, जीवन में मृत्यु का अनुभव होता है, वही सत्य का अधिकारी है। विचारदृष्टि से देखो, भोग करने से शक्तियो का ह्रास होता है। शक्तियों का ह्रास होने पर रोग बिना वुलाये आ जाता है; तव फिर भोग का कर्त्ता भोग करने के लिये असमर्थ हो जाता है। ऐसी अवस्था आने पर भोग से जो हर्ष हुआ था, उससे कही अधिक शोक आ जाता है। इसी दृष्टि से विचारशील हर्ष मे शोक का अनुभव करते है। चाहे कैसा ही सुन्दर भोग क्यो न हो तथा समाज के भी नियम के अनुकूल हो और भोगने की शक्ति भी हो, फिर भी शक्तिहीनता होनी अनिवार्य है। देखो, योग से शक्तियो का विकास होता है तथा भोगने से विनाश होता है। योग और भोग मे केवल यही अन्तर है कि भोग के लिये शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषयो से सम्बन्ध होता है और योग के लिये विषयो का त्याग कर विपयातीत अनन्त सत्य से सम्बन्ध होता है। योग और ज्ञान मे केवल यही भेद रहता है कि योगी योगाभिमान के कारण परम-तत्व से अभिन्न नही हो पाता, इसलिये योगी मे अनेक प्रकार की अद्‌भुत शक्तियाँ उद्‌भासित हो जाती हैं। भोग का अभाव होने पर योग अपने आप आ जाता है। योग स्वतन्त्र तथा भोग परतन्त्र है, क्योकि योग के लिये संसार की ओर नही देखना पड़ता। जिस प्रकार फलो की फसल खरीदने के लिये केवल फलों का दाम देते है और छाया विना मूल्य ही मिलती है, उसी प्रकार ज्ञान होने पर योग स्वय हो जाता है,

यद्यपि ज्ञाननिष्ट पुरुष को योग की कोई आवश्यकता नही रहती, तथापि असगता के कारण योग अपने आप होता है। अतः जिसे योग और भोग शान्ति नही दे पाते, वही सत्य का अधिकारी है।

राग तथा द्वेष आदि सभी विकार शरीर के सग से होते हैं, यद्यपि शरीर से एकता हो नही सकती। एकता उसी वस्तु से होती है जिससे स्वरूप से भिन्नता न हो। भिन्नता होने पर जो एकता मालूम होती है वह वास्तव मे एकता है नही। प्रिय !... जब आपको यह मालूम हो गया कि मैं शरीर नही हूँ, तो फिर क्या हूँ ? इस पर आपने बिचार नही किया। अब यह विचार करो कि मैं क्या हूँ ? देखो, जब आप कही बाहर घूमने जाती हैं, तव आपको अपने घर की याद आती है और याद आते ही आप अपने घर से दूर होते हुए भी घर को देखती हैं। आपको अपने माता, पिता तथा भाई की भी याद आने लगती है। जिन-जिन चीजो की याद आती है, उनका स्वरूप भी मालूम होने लगता है और उनके मिलने से जो आपको रस-सुख उत्पन्न होता है. उसको अपना मन चाहता है। उसी प्रकार आप अपने निज स्वरूप से अलग होकर शरीर तथा संसाररूपी जगल में खेलने आयी हैं, यह स्थान आपके खेलने का नही है। इसलिये आप शरीररूपी गाड़ी को छोड़ कर अपने परम-धाम को जाना चाहती है, परन्तु आपको रास्ता नही मिलता। थके हुए पथिक के समान कभी-कभी सुख का अनुभव कर लेती हो। जिनको आप अपने माता, पिता तथा बन्धु कहती हैं, वे इस जगल के कटीले वृक्ष हैं। जैसे कटीले

वृक्षो पर मीठे बेर लगते है, उसी तरह माता पिता आदि के संग कभी-कभी सुख मालूम होता है। आपकी वास्तविक रुचि तो अपने आनन्दघन धाम की है। आप अपनी रुचि को पहिचानो तो आप अपने को जान सकोगी। देखो, आप दुःख नही चाहती, अर्थात् आनन्द चाहती हो और जानने की कमी को भी पसन्द नही करती, अर्थात् ज्ञान चाहती हो, मरने से भी आपको भय मालूम होता है, अर्थात् हमेशा रहना चाहती हो, यह आपकी रुचि आपको यही बतलाती है कि आप सत्य को चाहती हैं, क्योकि जो सत्य है उसमें ही अनन्त ज्ञान है, उसमे ही आनन्द है। आपने यह समझ कर कि 'मैं लड़की हूँ', अपने निजस्वरूप को भुला दिया है, इसलिये आपका सम्बन्ध शरीर से हो गया है। यदि आप शरीर से सम्बन्ध नही रखना चाहती, तो बार-बार यह भावना करो कि 'मैं लड़की नही हूँ', बल्कि सत्-चित् आनद-घन हूँ। जब यह भाव स्थायी हो जायगा तब 'मैं लड़की हूँ' यह भाव मिट जायगा। इस भाव के मिटते ही आपको निज-स्वरूप का अनुभव होगा। यह भाव मिटा दो कि 'मैं अबोध बालिका हूँ' बल्कि यह भाव करो कि 'मैं शुद्ध-बोध स्वरूप हूँ' जब आप ज्ञान के लिये और किसी को पसन्द न करेंगी, तब आपको ज्ञान अपने में मिल जायगा। देखो जिस प्रकार आप दर्पण मे अपने मुख को देखती है, उसी प्रकार महात्माओ तथा किताबो में आप अपने शुद्ध ज्ञान को देखती हैं। ससार मे जो कुछ आनन्द की झलक है वह आपकी है। आपकी सत्यता से संसार सत्य सा तथा आपकी चैतन्यता से संसार चैतन्य सा प्रतीत होता है। देखो, जिस प्रकार तीन कोनेवाला लोहे का

टुकडा अग्नि के सग से अग्नि जैसा मालूम होता है, साधारण जानने वाला यही कहेगा कि अग्नि तिकोनी है, परन्तु वास्तव मे अग्नि कभी त्रिकोण नही होती और लोहा कभी अग्नि नही होता, अग्नि के ससर्ग से लोहा अग्नि और लोहे के सम्बन्ध से अग्नि त्रिकोण मालूम होती है। उसी प्रकार आपके सम्बन्ध से शरीर चैतन्य मालूम होता है और शरीर के सम्बन्ध से आप अपने को अवोध बालिका कहती हो। अव यह भाव मिटा दो कि 'मै अबोध वालिका हूँ'।

जो प्राणी आनन्दघन भगवान् के वास्तविक स्वरूप तथा अलौकिक गुणो को जान लेता है, वह शरणागत होने के लिये वाध्य हो जाता है। शरणागत होने पर फिर और कुछ भी करना शेप नही रह जाता। यह भक्तियोग का अन्तिम साधन है। शरणागति जीवन में केवल एक वार होती है। जिस प्राणी को अपने व्यक्तित्व का कुछ भी अभिमान नही रहता, वही शरणागति के रस को चख सकता है। यह रस अत्यन्त मधुर तथा परम पवित्र है। कामनायुक्त प्राणी शरणागत नही हो सकता। यह सभी जानते है कि विपयो से अरुचि अर्थात् भोग-वासनाओ का अन्त होने पर शरीर तथा ससार की सभी परिस्थितियाँ व्यर्थ तथा निरर्थक हो जाती हैं, ससार का मूल्य कुछ भी नहीं रहता, समानता स्वाभाविक आ जाती है और फिर वह प्राणी शरणागत होने का अधिकारी हो जाता है। शरणागति के अधिकारी को प्रियतम की प्रतीक्षा नही करनी पड़ती, वरन् वे स्वय उसकी प्रतीक्षा करते रहते हैं।

विषयो से अरुचि तो स्वाभाविक होती है और द्वेष प्रयत्न से। जब तक विषयो से द्वेष रहता है तब तक ही विषयी प्राणियो से घृणा करता है और जब तक उसका विपयो से राग होता है, तब तक ही उसकी प्राणियो से प्रीति होती है। प्रीति तथा घृणा दोनो ही मन मे विकार तथा अहकार को जीवित रखती है। विपयो से अरुचि होने पर प्रीति तथा घृणा नही रहती। ऐसे विचारशील को ही ससार का तत्व-ज्ञान होता है। उसका किसी व्यक्ति के प्रति राग-द्वेष नही रहता, अर्थात् सभी व्यक्तियो से पूर्ण असगता होती है। उसके हृदय मे शुद्ध प्रेम के अतिरिक्त कुछ नही रहता। यह भली प्रकार समझ लो कि प्रेम किसी व्यक्ति से नही होता, व्यक्तियो से तो राग-द्वेष ही हो सकता है और त्याग भी किसी व्यक्ति-विशेष का नही होता। त्याग कुल ससार का और प्रेम जो ससारातीत है, उससे होता है, अथवा त्याग शरीर का और प्रेम जो शरीर से परे है, उससे होता है।

जो प्राणी बड़े-बडे भोगों को प्राप्त करना चाहता है,उसको शुभ कर्मो में प्रवृत्ति होती है। यद्यपि वर्तमान मे बड़ा तप तथा त्याग करता है, किन्तु उसका विषयो से राग निवृत्त नही होता। शुभ-कर्मवादी स्थूल ससार का त्याग नही कर सकता और न स्थूल शरीर की गुलामी से छट सकता है। जो प्राणी ऊँचे-ऊँचे लोक लोकान्तरो की अभिलाषा करता है, वह भी विषयो से पार नही पाता। वह यद्यपि स्वर्गादिक भोगो का त्याग करता है, फिर भी बेचारा विषयो से छट नही पाता। उस प्राणी को स्थूल शरीर का सग करने की तो आवश्यकता नही रहती, परन्तु सूक्ष्म शरीर का सग तो करना ही पडता है, अर्थात् वह

भावनाओं के द्वारा अपने प्रेम-पात्र के लोक को गमन करता है।

जो प्राणी लोक-लोकान्तर की अभिलाषाओ का त्याग कर देता है, परन्तु समाधि-जन्य आनन्द का त्याग नही करता, वह भी बेचारा विषयो से छूट नही पाता। यद्यपि उसका किसी वस्तु से सम्बन्ध नही होता, परन्तु जो सभी वस्तुओ का कारण है, उस अनन्त शक्ति से तो उसका सम्बन्ध रहता ही है और उसे कारण शरीर का सग करना पड़ता है।

शरणागत होने पर सभी शरीरो से और विषयो से सम्बध छूट जाता है, इसमे तनिक भी संदेह नही। जिस व्यवहार मे लेशमात्र भी सकोच हो, उसे मत करो, अचिन्तन तथा निभयता अपना स्वभाव बना लो। किसी प्रकार का भी चिन्तन न होने दो, यदि आ जाय तो विचारपूर्वक त्याग कर दो। कोई भी काम जमा न रक्खो। आनन्द आपकी प्रतीक्षा करता है, उससे भूल कर भी निराश मत होओ।

---

३ दिसम्बर १९४१

सत्य का अनुभव असत्य के त्याग से होता है। त्याग वर्तमान में और कर्म भविष्य में फल देता है। कर्म से ससार मे बड़े से बड़े पद प्राप्त हो सकते है, परन्तु सत्य का अनुभव किसी प्रकार नही हो सकता। यद्यपि ससार मे किसी काल में भी स्वरूप से एकता नही होती, सिर्फ मानी हुई एकता के आधार पर संसार का अनुभव करते है। मानी हुई एकता विचार-पूर्वक त्याग करने से मिट जाती है, क्योकि स्वरूप से होती

नहीं और उसी काल मे फिर स्वय सत्य का अनुभव हो जाता है। त्याग करने के लिये कर्त्ता सर्वकाल में स्वतन्त्र है, क्योकि जो करना चाहिये उसकी शक्ति कर्त्ता में सर्वकाल विद्यमान रहती है। कर्त्तव्य पूरा करने पर कर्त्ता का अन्त हो जाता है। कर्त्ता का अन्त होते ही अपने आप सत्य का अनुभव हो जाता है। सच्चा समर्पण जीवन मे एक बार होता है और फिर कुछ भी करना शेष नही रहता।

इच्छा रहित होने पर व्यक्तित्व का अभिमान गल जाता है, अर्थात् फिर अपने से बड़ा तथा छोटा कोई दिखलाई नहीं देता और फिर हृदय आनन्द भर जाता है और सुख तथा दु.ख की अग्नि सदा के लिये शान्त हो जाती हैं, इसमें कुछ भी सदेह नही।

इच्छाओ का कम हो जाना कुछ भी अर्थ नही रखता, क्योंकि जिस प्रकार एक बीज में अनन्त वृक्ष छिपे रहते है, उसी प्रकार एक इच्छा में अनन्त इच्छाएं छिपी रहती है। गहराई से देखो, इच्छाओ का मूल आधार स्वरूप का प्रमाद अर्थात् अज्ञान है, जो ससार की प्रतीति का कारण है। यह सभी जानते हैं कि कारण से कार्य भिन्न नही होता।

---

१५ दिसम्बर १९४१

आपका कर्तव्य वही है, जो आप कर सकते है। जो आप नही कर सकते, वह आपका कर्त्तव्य नही है। कर्त्तव्य पालन करने पर वही मिल जाना चाहिये, जो आप चाहते हैं। मिटाने की अभिलाषा उसी वस्तु की होती है, जो मिट सकती

है और पाने की अभिलाषा उसी वस्तु की होती है, जो मिल सकती है। मिट वही सकती है जो स्वरूप से न हो और मालूम होती हो। मिल वही सकती है, जो स्वरूप से हो और मालूम न होती हो। मिटाना उसी को चाहते हैं, जिसकी आवश्यकता न हो और प्राप्त उसी को करना चाहते हैं, जिसकी आवश्यकता न हो और प्राप्त उसी को करना चाहते हैं जिसकी आवश्यकता होती है। अज्ञान को मिटाने की और ज्ञान को पाने की आपने अपनी रुचि प्रकट की है। अज्ञान यदि स्वरूप से होता तब तो न तो मिटाने की रुचि होती और न मिट सकता था। मिटाने की रुचि होती है, इसलिये यह भली प्रकार समझ लो कि अज्ञान स्वरूप से कोई वस्तु नही है, सिर्फ मानी हुई वस्तु है। मानी हुई वस्तु अविचार के आधार पर प्रतीत होती है और विचार से मिट जाती है। आपने विचार करने की शक्तिहीनता भी लिखी है, परन्तु यह आपके दिमाग की बात है, हृदय की नही। जो प्राणी अपने हृदय मे निर्बलता का अनुभव करता है, उसको बडी व्याकुलता होती है, क्योकि अपनी दृष्टि से अपने को निबल अनुभव करते ही सबसे अधिक दुख होता है। दुखी की विचार करने की शक्ति स्वय जाग्रत हो जाती है। दुखी की कमी उसी समय तक रहती है, जब तक प्राणी अपनी दृष्टि से अपने मे कमी का अनुभव नही करता। प्यारे, करने की शक्ति का अन्त होने पर तो सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है, क्योकि जो 'कुछ नही करता' वह सबसे बडा है, यहाँ तक कि वह ईश्वर का भी ईश्वर तथा गुरुओ का गुरु, प्रेमियो का प्रेम, ज्ञानियो का ज्ञान, अर्थात् सबका सब कुछ है। कुछ न करने के लिये ही सब कुछ किया जाता है। यदि करने

की शक्ति न होती, तो कुछ अभिलाषा भी न होती। जिसमे अभिलापा होती है उसमे करने की शक्ति अवश्य होती है। अब विचारदृष्टि से देखो, आपको कभी भी गवर्नर होने की अभिलाषा नही होती, परन्तु आनन्द पाने की अभिलापा अवश्य होती है। गवर्नर होने की अभिलापा इसलिए नही होती कि उसके साधन आपके पास विद्यमान नही है। आनन्द पाने के साधन आप में विद्यमान है, इस-लिए आनन्द पाने की अभिलापा आपको होती है। अतः आनन्द से निराश होना परम भूल है। आनन्द आपकी प्रतीक्षा कर रहा है। आप एक बार उसकी ओर देखिये तो सही। ऐसा करते ही आप उसके और वह आपका हो जायगा, इसमे तनिक भी सदेह नही है। जिसको देखना आता है, वह अपनी रुचि के अनुसार इधर से उधर देख सकता है। वह ससार से विमुख होकर आनन्द की ओर देख सकता है। जो राग-द्वेष कर सकता है। वह त्याग-प्रेम भी कर सकता है। अतः यह वात विल्कुल भूल जाओ कि 'मैं कुछ नही कर सकता'। आप अपनी सद्भावपूर्वक की हुई सभी अभिलाषाओ को पूर्ण करने मे सर्वदा समर्थ है।

---

४ जनवरी १६४१

'कुछ न करना' अथवा 'सब कुछ करना' इन दोनों का अर्थ एक है, परन्तु 'कुछ' करने से बडी अवनति होती है, क्योकि कुछ करने से 'कुछ' की ओर जाना पड़ता है, जो 'सब कुछ' से विमुख कर देता है। 'कुछ न' होने पर तो 'सब कुछ'

मिल जाता है, इसमें तनिक भी सन्देह नही। सच्ची शक्ति-हीनता होते ही अनन्त शक्ति बिना बुलाये आ जाती है, अथवा बिना माँगे मिल जाती है, क्योकि सीमित शक्तियो का अभाव होते ही असीम शक्ति से सग हो जाता है। अपनी कमी का ज्ञान होना बड़े सौभाग्य की बात है। कमी का ज्ञान होने पर कमी से और ससार का ज्ञान होने पर ससार से सम्बन्ध नही रहता, क्योकि अनुकूलता का ज्ञान होने पर सग और प्रतिकूलता का ज्ञान होने पर असङ्ग स्वय हो जाता है। 'कुछ नही' कर सकते तो कोई बात नही, किन्तु 'करने' की अभिलाषा भी मत करो, क्योकि प्रेमी की चाह को प्रेम-पात्र भली प्रकार जानता है। उनके दरवाजे की ओर देखने के सिवा भला प्रेमी कर भी क्या सकता है? क्योकि बेचारे प्रेमी के लिये तो और सभी दरवाजे बन्द हो जाते है। उनके दरवाजे का भिखारी भिखारी नही रहता, बल्कि वही हो जाता है। प्यारे, प्रेम-पात्र का सग कर अचिन्त हो जाओ और सर्वदा अभय रहो। स्मरण, चिन्तन, ध्यान तथा सज्जनता के आधार पर जीवित रहना बेकार है।

सन्त-वाणी

८ जनवरी १९४१

प्रेम-पात्र का सग कर अचिन्त हो जाओ और सर्वदा अभय रहो। स्मरण, चिन्तन, ध्यान तथा सज्जनता के आधार पर जीवित रहना प्रेम का अधूरापन है, जो किसी भी प्रेमी को शोभा नही देता। चिन्तन, ध्यान आदि अथवा सग

मे वडा भेद है। ध्यान आदि से माना हुआ अहभाव दब ज.ता है और संग से मिट जाता है, क्योकि चिन्तन, ध्यान आदि से कुछ न कुछ दूरी अवश्य रहती है और सङ्ग से किसी प्रकार की दूरी तथा भेद नही रहता। चिन्तन, ध्यान आदि अनेक वार करना पड़ता है और सङ्ग सिर्फ एक बार करना पड़ता है, अर्थात् फिर करने का अन्त हो जाता है। जव प्राणी सज्जनता का अभिमानी (अर्थात् साधन जनित सुख में आसक्त) होकर अपने जोवन को सतोषजनक पाता है, तव चिन्तन ध्यान आदि करता है और उस जीवन (अर्थात् अवस्था से अरुचि होने पर प्रेम-पात्र के समर्पित हो उससे सग करता है; जिसके होते ही प्रेमी प्रेम होकर प्रेम-पात्र से अभिन्न हो जाता है, बस यही संग और चिन्तन ध्यान आदि मे भेद है। जीवन का स्वरूप क्या है, यह भली प्रकार यथार्थ जान लेने पर जीवन से अरुचि अपने आप हो जाती है। गुणयुक्त जीवन से सुख तथा दोपयुक्त जीवन से दु.ख जीवन के अभिमानी को ही होता है—यह सभी जानते तथा मानते हैं परन्तु इतने ही से जीवन के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होता। सुखी जीवन से भी दूसरो को दु ख होता है। यह वात सुनने में तो अजीव सी मालूम होती है, परन्तु विचारदृष्टि से देखिये कि दु.ख का जन्म कब होता है? जब प्राणी अपने से किसी विशेष व्यक्ति को सुखी देखता है, तब उसके हृदय मे दु ख का जन्म होता है, क्योकि यदि निर्धन को कोई धनी दिखाई न दे, तो निर्धनता का दु ख कुछ नहीं होता। अत. सुखी जीवन ने दुःख को जन्म दिया। सुखी जीवन न तो दूसरे को सुखी बना सकता है, न दूसरे की

उन्नति कर सकता है। पूर्ण दुखी (अधूरा दुखी नही) अपनी उन्नति तथा दूसरे को सुख प्रदान करने के लिए सर्वथा समर्थ है, क्योकि दुखियो के विना सुखियो की सत्ता कुछ नही रहती। इस दृष्टि से प्यारा दुखी पूजन करने के योग्य है। दुखियो का पूजन करने पर, जीवन की दोपरहित अवस्था मे भी दुख का अनुभव हो जाता है, जो उन्नति का मूल है। पूर्ण दुख होने पर दोपयुक्त जीवन का अन्त हो जाता है। अधूरा दुख अर्थात् सुख की आशा के आधार पर दोष युक्त जीवन जीवित रहता है। दोपयुक्त प्राणी अपने को दुखी करता है तथा दूसरे को भी दुखी करता है, और गुण,युक्त प्राणी अपने को सुखी करता है तथा दूसरे को दुखी करता है। इस दृष्टि से गुणयुक्त प्राणी दोषयुक्त प्राणी की अपेक्षा श्रेष्ठ है, परन्तु गुणो का अभिमानी प्रेम-पात्र से विमुख अवश्य रहता है। विचार दृष्टि से देखो, सुखी जीवन से दूसरो को दुख, दुखी जीवन से दूसरो को दु.ख और मृत्यु से भी दूसरो को दु.ख (मृत्यु भी जीवन की एक अवस्था है, क्योकि मृत्यु से शरीर का सङ्ग नही छटता), इस दृष्टि से जीवन का स्वरूप क्या है ? केवल दुख। इस प्रकार जीवन का स्वरूप जान लेने पर जीवन से अरुचि अवश्य हो जाती है। अरुचि होने पर शरीर तथा ससार से असगता होती है, जो उन्नति का मूल है, क्योकि किसी भी असगता से ही किसी का सग होता है। अतः प्रेम-पात्र का सग करो। प्रेम-पात्र वही है जो सर्वोत्कृष्ट है, अर्थात् जिसके समान दूसरा नही है। वह सभी प्राणियो का एक है, अनेक नही। उससे सङ्ग करने के लिए अभिलापा होने पर सभी प्राणी समर्थ है, क्योकि वह किसी का तिरस्कार नही करता। उसके सिवा दुखी को अपनाने के लिए सभी

असमर्थ हैं, अथवा यो कहो कि उसमे भिन्न सभी दुखी हैं। दुखी को दुखी कैसे अपनायेंगे ? अर्थात् नही अपना सकते। प्रेम-पात्र का सग न करना ही दुःख का मूल है, जो दुखी की अपनी भूल से हुआ है। दुखी का दुख उसी समय तक जीवित है जब तक अभागा दुखी सुख की आशा में सुखियो की ओर देखता है। सुख तथा सुखियो से असंग होते ही दुख का सदा के लिये अन्त हो जाता है, इसमे तनिक भी सदेह नही है।

---

९ जनवरी १९४१

जीवन का सदुपयोग क्या है ? हृदय में जो अविचार के कारण दीनता तथा अभिमान की अग्नि जलती है उसका अन्त कर देना ही वास्तविक जीवन का सदुपयोग है। दीनता कब आती है ? जब अपने से किसी विशेप को देखते हैं। अभिमान कब आता है ? जब अपने से छोटा देखते है। छोटा बड़ा कब दिखाई देता है ? जब अपने को शरीर समझते है। अत. अपने को शरीर से ऊपर उठा लेना ही जीवन का सदुपयोग है। ऐसा करने से दुख का अन्त हो जायगा, हृदय शुद्ध प्रेम से भर जायगा, सब कुछ अपने मे ही अनुभव होगा, अपनी प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न किसी और की आवश्यकता न रहेगी और सारा विश्व अपनी अवस्था के सिवा और कुछ न रहेगा।

प्यारे, व्रज तो वास्तव मे प्रेमी का हृदय है, क्योकि उसमें ही प्रिया-प्रीतम निवास करते है। व्याकुलतापूर्वक प्यारे से मिलने की जो रुचि है, वही प्रिया का स्वरूप है और वह रुचि जिसमे विलीन हो जाती है, वही प्रीतम का स्वरूप है। प्रिया-प्रीतम का मिलन ही जीवन का परम लक्ष्य है।

---

९ जनवरी १९४१

उनकी कृपा पर निर्भर हो जाना भक्ति-भाव की दृष्टि से सर्वोत्तम साधन है। परन्तु उनके सग के विना चैन से रहना परम भूल है। सग कैसे हो ? इस पर विचार करो। करना कव तक है ? जव तक करने की शक्ति है। करने की शक्ति मिटने पर सग, तथा सग होने पर करने की शक्ति मिट जाती है। करने का जन्म कव होता है ? जब किसी प्रकार की चाह (प्रेम-पात्र तथा ससार की) होती है। चाह कब तक होती है ? जव माने हुए स्वरूप पर विश्वास करते हैं। 'मैं भक्त हूँ, यह भी माना हुआ स्वरूप है, अथवा 'मैं स्त्री हूँ' 'मैं अमुक हूँ' यह सभी माने हुए स्वरूप हैं। वास्तव मे 'मैं क्या हूँ' इसका पता लगाना है। माने हुए 'मैं' के अनुसार करने का भाव अपने आप उत्पन्न होता है। अहभाव के वदलने से कर्त्तव्य वदल जाता है और अहभाव के मिटने से कर्त्तव्य मिट जाता है। जवसे यह भाव हुआ कि 'मै उनकी हूँ' तवसे उनकी कृपा का सहारा हो गया, परन्तु उनकी होकर उनसे दूर रहना प्रेम का अधूरापन है, जो प्रेमी को शोभा नही देता। चिन्तन, ध्यान, सज्जनता तथा भाव के रस के आधार पर उस मैं' को जीवित मत रक्खो, जो दौड़ता फिरता है। प्रेम-पात्र वही करते हैं, जो प्रेमी चाहता है, उनकी कृपा अभिलापा की पूर्ति करती है। अभिल.पा का अन्त होने पर सग होता है। ध्यान आदि से समीपत्व होता है, एकता नही। एकता संग से होती है, सग माने हुए अहंभाव के मिटाने पर होता है। मिलना पतग-दीपक-जसा और वियोग जल-मछली-जैसा होना चाहिये। वियोग का वढ़ा हुआ दुख स्वय योग हो

जाता है, क्योकि वियोगी की सत्ता दुःख की अग्नि में जल जाती है।

जीवन की सुन्दरता स्वाधीनता में है, जो सभी से असग होने पर मिलती है चिन्तन, ध्यान अनेक बार और सग एक बार होता है। सग होने पर करने का अन्त हो जाता है। वे करा रहे है, यह भी भाव नही रहता। यह हो रहा है, इसमें भी सद्भाव नही रहता। क्या होता है? वही जाने। क्या जानना है? जो अभिलाषा थी। अभिलाषा क्या थी? दु.ख न हो। दुःख कब होता है? जब अपने से किसी विशेष को देखता है, अर्थात् संग होने पर अपने से भिन्न अपने प्रीतम को नहीं पाता। प्रीति-रस की दृढ़ता के लिए प्रेम-पात्र का वियोग आवश्यक था।

---

१४ जनवरी १९४१

जिस प्रकार खेत में अनेक प्रकार के बीज बोये जाते हैं, प्रत्येक बीज अपने स्वभाव के अनुसार खेत के स्वभाव का कथन करता है। यद्यपि सभी सत्य कहते हैं, किन्तु फिर भी एक दूसरे से भिन्नता मालूम होती है। उसी प्रकार अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अनेक जिज्ञासु सत्य के स्वरूप का कथन करते है! अब सत्य एक है, तो ऐसा क्यो प्रतीत होता है? इस पर यदि विचार किया जाय तो यही मालूम होता है कि अपने स्वभाव के अनुसार सत्य के स्वभाव को देखते है, यद्यपि सत्य अनन्त प्रकार के स्वभाव की पूर्ति करते हुए भी स्वभाव से अतीत है। विचारदृष्टि से देखो, जैसे खेत मिर्च को चरपराहट और ईख को मिठास देता है,

यद्यपि खेल न मीठा है न चरपरा, वह तो सिर्फ ईख के मिठास की और मिर्च के चरपराहट की पूर्ति करता है, उसी प्रकार सत्य विपय-युक्त प्राणियो के स्वभाव के अनुसार प्रकट हो उसकी पूर्ति कर, उनको उस स्वभाव से ऊपर उठा, अपने अनन्त स्वभाव मे विलीन कर, अपने से अभिन्न कर लेता है। प्यारे, अपनी रुचि की खोज करो। जो तुम्हारी रुचि है तुम उसी को जान सकोगे। यदि रुचि का अन्त कर दो तो स्वय सत्य से अभिन्न हो जाओगे। क्या तुम कभी दुखी होना चाहते हो ? यदि यह कहो कि नही, तो इसका अर्थ यही है कि सत्य वही होगा जिसमे दु ख न हो। दु ख कब होता है ? जब आप अपने से किसी विशेप वस्तु को देखते हैं अर्थात् आपकी रुचि यही कहती है कि हम सबसे वशेष होना चाहते है। ससार आपको सबसे विशेप करने के लिए असमर्थ है, परन्तु जब आप ससार को त्याग 'मेरी' और देखेंगे तो 'मैं' उस रुचि को पूर्ति करने के लिए समर्थ हूँ। यही 'मेरा' स्वरूप है। आपका काम सिर्फ 'मेरी ओर देखना है, इसके सिवा जो कुछ करना होगा, वह स्वय 'मै' करू गा। जो 'मेरी' ओर नही देखता उसकी ओर 'मैं' कभी नही देखता। परन्तु आप जिसकी ओर देखते हो 'मै' उसी स्वभाव को धारण कर आपकी पूर्ति करता हूँ, परन्तु ऐसी दशा मे आप 'मेरे' पूर्ण स्वरूप को नही जान सकोगे। 'मेरे' पूर्ण स्वरूप को तब जान सकोगे जब आप अपने विपय-जन्य स्वभाव को त्यागकर अकेले हो सिर्फ 'मेरी'ओर देखोगे। सच्चे जिज्ञासु मुझसे 'अभिन्न होकर, अत. 'मेरे' जानने के लिए अपने वनावटी स्वभाव को मिटा दो। ही 'मुझे' जानते है, 'मुझसे' भिन्न होकर 'मुझे' नही जान पाते।

जो अपने को समर्पित कर देता है वही कृपा का अधिकारी है। कामना-युक्त प्राणी समर्पण कर नही पाता। अतः कामनाओ का त्याग कर कृपा पात्र बनो, कृपा स्वय आपके पैर पलोटेगी। रुचि के स्थायी होने पर व्याकुलता उत्पन्न होगी, व्याकुलता बढ जाने पर कामनाओ का अन्त होगा, कामनाओं का अन्त होते ही सफलता स्वय हो जायगी। इसमे तनिक भी सन्देह नही।

---

१६ जनवरी १९४१

जो जिसका हो जाता है, वह उसके बिना रह नही सकता, अर्थात् फिर वियोग कहाँ? वियोग मिटने पर मिलने की अभिलापा कैसी? मिलने की अभिलाषा तो न मिलने को सिद्ध करती है और न मिलना तब तक जीवित है जब तक हम उनके नही हो जाते।

जब हम वह करते हैं, जो करना चाहिये, तब क्या वे वह नही करते जो उनको करना चाहिये? यदि वे ऐसे है तो उनसे मिलने से क्या लाभ? जिसमे करने की शक्ति नहीं होती, उसमें कोई अभिलाषा भी नही होती, जिसमें अभिलाषा होती है, उसमें करने की शक्ति अवश्य होती है। अभिलाषा होते हुए 'मैं कुछ नही करता' ऐसा कहना अपने आपको धोखा देने के सिवाय कुछ अर्थ नही रखता। अपने आपको धोखा देना सबसे बड़ा पाप है। अपने को समर्पित करने पर किसी प्रकार की भी कमी शेप नही रहती, ऐसा भली प्रकार अनुभव हुआ है।

२७ जनवरी १९४१

साधन करने से पहले साधक को यह विचार करना चाहिए कि हम साधन किस लिये करते हैं, अर्थात् हम क्या चाहते हैं। जो प्राणी अपनी चाह का पता लगा लेता है उसका मन साधन मे अपने आप लग जाता है, क्योकि बेचारा मन तो आपकी चाह के अनुसार काम करता है। आपकी आज्ञा के बिना आपका मन कभी कुछ नही करता। जिन कामो में आपको रस आता है, उन कामो मे आपका मन लग जाता है। इसलिये उस रस को मिटाओ, जो काम करने में प्रवृत्त करता है विचार तो करो कि जिन कामो को अनेक वार किया है, फिर भी वे काम आपको वह नही दे सके, जो आप चाहते है। इससे यह मालूम होता है कि अब तक जो हम कर चुके है, उससे भिन्न अभी हमे करना है। उसका पता तव चलेगा, जब जो आप करते हो उसका त्याग करोगे।

देखो वुराई का त्याग होने पर अच्छाई उत्पन्न होती है। अच्छाई किसी से सीखी नही जाती। सीखी हुई अच्छाई अच्छाई नही होती, क्योकि ठहरती नही। जो तुम चाहते हो, उसके न होने का दुख वढाओ, क्योकि दुख के बिना विकार मिट नही सकते। प्रत्येक प्राणी चाह उत्पन्न होने पर जव चाह पूरी नही होती, तव स्वयं अपने आप दुखी होता है। अतः अपनी अभिलाषा को स्थायी करो। अभिलाषा स्थायी होने पर दुख अपने आप स्थायी हो जायगा। जो दुख कभी-कभी होता है वह आपका नही है। वह तो सिर्फ वाहर की सीखी हुई अच्छाई है।

कोई भी प्रेमी प्रेम-पात्र के बिना चैन से नहीं रहता। प्रेमी के लिए प्रेम-पात्र का दरवाजा सर्वदा खुला रहता है। प्रेम-पात्र प्रेमी से कही अधिक प्रेम करता है। अभागा प्रेमी तो एक बार भी प्रेम-पात्र की ओर नही देखता, क्योकि एक वार देखने पर तो प्रेमी का प्रेम-पात्र से अभेद हो जाता है। विचारदृष्टि से देखो,प्रेम-पात्र के बिना मिले जो प्रेम-पात्र की याद आती है, वह तो उनकी कृपा है, क्योकि मिलन सिर्फ एक बार होता है। देखो, मिलन होने पर याद नही आती। जब याद आती है, तो इसका अर्थ यही है कि वे आपको बुलाते है। साधारण प्राणी उनके बुलाने पर भी उनकी ओर नही देखते, परन्तु परम दयालु फिर भी बुलाना बन्द नही करते।

देखो, प्रत्येक प्राणी आनन्द की अभिलाषा करता है। आनन्द प्रेम-पात्र का स्वरूप है। सच्चा भजन जीवन मे सिर्फ एक बार होता है। ससार से विमुख होकर प्रेम-पात्र की ओर जाना ही सच्चा भजन है। जप आदि के आधार पर जीवित रहना प्रेम का अधूरापन है तथा अपने को धोखा देना है। प्रेमी के हृदय में मिलने का भाव उत्पन्न होने पर मिलने पर ही अन्त होता है। जब तक मिलना नही होता तब तक लगातार हृदय व्याकुलता की अग्नि मे जलता है। व्याकुलता के सिवाय प्रेम-पात्र से मिलने का और कोई मार्ग नही है। व्याकुलता होने पर हृदय का दरवाजा खुल जायगा,भय मत करो। सच्चाई प्राप्त करने का सभी को अधिकार है, परन्तु पाता वही है, जो सच्चाई के विना किसी प्रकार नही रह सकता, ऐसा मेरा अनुभव है।

२४ जनवरी १९४१

विचारदृष्टि से देखो, मानव-जीवन क्या है ? दो प्रकार की चाह मे फँसा हुआ प्राणी, आनन्द तथा विषय-सुख की इच्छा करता है, विषय-सुख की पूर्ति के लिये कर्म करता है, परन्तु आनन्द के लिए कर्म दिखाई नही देता। सभी कर्म सीमित फल देकर असमर्थ हो जाते है, आनन्द तक नही पहुँचाते। दु ख जो होता है उसका कारण तो सुख है। शुभ कर्म का फल सुख है और सुख दु ख मे बदलता है। इस दृष्टि से तो कर्म ही दुःख का मूल हुआ। विचारो तो सही, प्रत्येक कर्म का जन्म कामना से होता है, कामना गलत ज्ञान से होती है और गलत ज्ञान शरीर तथा ससार मे सद्भाव होने से होता है। क्या आप आनन्द का अनुभव करने के लिए कोई कर्म बता सकते है ? क्या ससार आनन्द देने के लिए समर्थ है ? क्या कोई भी कर्म संसार से पार कर सकता है ? अतः इन सब विषयों पर काफी विचार करने के बाद आनन्द का अभिलाषी ससार से विमुख हो, आनन्दघन भगवान् की शरणागत होने के लिए मजबूर हो जाता है। भोगो का गुलाम कर्म के जाल मे फँसना पसन्द करता है। दूसरी दृष्टि से देखिये, दु ख तथा दु'खियो को देखकर हृदय में जो नास्तिक-भाव उत्पन्न हुए है, यह सिर्फ विचार की कमी है। गहराई से देखो, कि दु ख का होना तो आनन्दघन भगवान् की परम कृपा है, क्योकि यदि दु ख न हो, तो विपय-सुख से अरुचि किसी प्रकार नही हो सकती, बल्कि दु ख होने पर भी साधारण प्राणी विपयो की ही लालसा करते है। जरा हृदय को तो देखो, यदि ससार की वस्तुओ की वासना न हो तो

दु ख ही क्या है ? आपको जो दु ख दिखाई देता है, वह सब सिर्फ ससार-सुख की वासना का फल है। दयानिधि की दया से ही गलत ज्ञान अर्थात् अहभाव मिट सकता है। कुछ दिन पहले आपका यह कथन था कि मुझको सत्य के सिवाय और किसी वस्तु को आवश्यकता नही, जिसकी पूर्ति के लिए ससार से अरुचि होना अनिवार्य था। जब ऐसी घटना हुई तब ससार से अरुचि के अतिरिक्त सत्य से अरुचि उत्पन्न हुई। आपको उस ईश्वर की प्रार्थना करना पसन्द है, जो आपकी रुचि के अनुसार ससार की वस्तुये आपकी भेट करता रहे। जो आपको ससार से पार कर अनन्त आनन्द की ओर बुलाता हैं, उससे निहोरा करने मे हृदय को सकोच मालूम होता है। क्या यही पवित्र प्रेम है ? क्या यही सत्य की अभिलाषा है ? क्या आपका यह अनुभव नही कि जब-जब दु ख हुआ, तब-तब आपकी उन्नति हुई फिर भी दुःख का इतना निरादर करते हो ! यही बड़ी भूल है। भगवान् जब विशेष कृपा करते हैं, तब उसके यहाँ दु ख के स्वरूप में प्रकट होते है। सुखी जीवन अपनी तथा दूसरे की उन्नति के लिए सर्वदा असमर्थ है। अतः दुःख को भगवान् की परम कृपा समझ हृदय में बार-बार आनन्दघन भगवान् को बुलाओ। दु ख की कृपा से ससार की वासनाओ का पता चल गया, अब उनको निकाल दो।

पत्र के स्वरूप मे दर्शन मिला। करना वही उचित है जिसकी रुचि हो, परन्तु ध्यान यह रखना कि क्रिया-शक्ति से

भाव-शक्ति अधिक हो, परन्तु साधारण प्राणी क्रिया इतनी अधिक बढा लेते हैं कि भाव क्रिया ही मे रह जाता है, लक्ष्य तक नही पहुँचता। क्रिया-भाव मे और भाव लक्ष्य मे विलीन होना चाहिए, क्योकि प्यारे से मिलन अक्रिय होने से होता है। साधन मे एकनिष्ठता हो। अनेक मन्त्र अपना कोई विशेप अर्थ नही रखते। व्याकुलतापूर्वक चिन्तन करने पर सभी मत्र लक्ष्य की पूर्ति में समर्थ हैं। प्रणव मे अनन्त विद्याये विद्यमान हैं, ऐसा सभी विद्वानों का मत है। निरन्तर उसका ही चिन्तन हो। मन का निरोध होने पर प्राण का निरोध स्वय हो जाता है। भाव तथा विचार की प्रबलता से मन का निरोध सुगमतापूर्वक होता है। प्राणायाम आदि की आवश्यकता भाव की कमी होने पर होती है। भाव जागृत होने पर स्थूल साधन आवश्यक नही हैं। आसन आदि स्थूल शरीर के सुधार मे समर्थ है। स्थूल शरीर की वासना सूक्ष्म शरीर को शुद्ध नही होने देती। सूक्ष्म शरीर का सुधार भाव तथा विचार से ही हो सकता है।
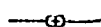
ससार की चाह करने वाला प्राणी, सच्ची आस्तिकता को नही पाता और न उसके हृदय मे प्रीति उत्पन्न होती है, क्योकि कामनायुक्त प्राणी प्रेम नही कर सकता। प्रीति का जन्म होते ही व्याकुलतापूर्वक प्रेम-पात्र का स्मरण, चिन्तन, ध्यान तथा समाधि सभी अवस्थाये अपने आप आ जाती हैं, परन्तु प्रेमी का हृदय तब तक सन्तुष्ट नही होता, जब तक किसी प्रकार की दूरी शेप रहती है। समाधि आदि अवस्थाओ से उत्थान होता है। प्रेमी में वियोग सहने की शक्ति नही रहती, अत

समाधि के रस का भी त्याग करके प्रीति प्रीतम से अभिन्न हो उनका स्थायी संग करती है। प्रीति प्रेम-पात्र की कृपा से उत्पन्न होती है। कृपा यद्यपि सभी पर होती है, परन्तु उस कृपा का अनुभव तब होता है, जब हम सब प्रकार से उनके हो जाते हैं। प्रेम-पात्र के सिवा किसी सत्ता को स्वीकार न करना, यही उनका हो जाना है। असमर्थ को समर्थ करने में उनकी कृपा ही समर्थ है, इसमें तनिक भी सदेह नही है। पूर्ण असमर्थ होते ही शरीर आदि का अभिमान नही रहता, अथवा पूर्ण समर्थ होते ही प्रेम-पात्र से भिन्न सभी सत्तायें निकल जाती हैं। इन दो अवस्थाओ से भिन्न और सभी अवस्थाये निरर्थक है। आस्तिक प्राणी की इन दो के सिवा और अवस्थाये नही होती। विचार-दृष्टि से देखो, एक काल में, एक हृदय मे दो स्वतन्त्र सत्तायें नही ठहर सकती। प्रेम-पात्र के आते ही प्रेमी की सत्ता का अन्त हो जाता है। प्रेमी के रहते हुए प्रेम-पात्र आ नही पाता, सिर्फ माने हुए नाते के आधार पर हृदय कभी-कभी भावावेश से भर जाता है, जो वास्तव मे प्रेम नही कहा जा सकता। साधारण प्राणी भाव-जन्य रस के आधार पर सिर्फ जीवित रहते है। यदि कुछ कहा जाय तो आस्तिकता के बहाने उत्तर दे देते हैं। करने को शक्ति होते हुए भी करने से अपने को बचाते हैं। भला देखें, कब तक बचोगे ! करने की शक्ति तो सिद्ध अवस्था मे नही रहती, क्योकि तब माना हुआ अहभाव गल जाता है। अहभाव होते हुए कुछ न कुछ करने की सूझती ही रहती है। अहभाव का बदल देना ससार की दृष्टि से अच्छा बुरा कहा जा सकता है। आस्तिक-भाव से तो अहभाव का न रहना ही श्रेष्ठ है, क्योकि अहभाव के रहते हुए प्रेम-पात्र के ठहरने के लिए स्थान नही मिलता। वह अनेक बार आये और स्थान न

मिलने के कारण चले गये। वे निरन्तर बुलाते हैं, किन्तु जाने की फुर्सत नही।

विचारो, आनन्द की अभिलाषा सदैव रहती है। निरन्तर याद उन्ही की आ सकती है कि जो हमारी निरन्तर याद करते है। इस दृष्टि से यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि आनन्दघन प्रेम-पात्र निरन्तर बुला रहे है। दु ख की कमी सच्ची आस्तिकता नही आने देता। पूर्ण दु ख आने पर स ंसार की सत्ता हृदय मे ठहर नही सकती। साधारण प्राणी दुखी संसार को देख हमारे प्यारे पर आक्षेप करते है, यह उनकी भूल है, क्योकि उनमे दु ख तो है ही नही, भला देंगे कहाँ से ? दु ख तो सुख से मिला है, सुख ससार की सत्ता स्वीकार करने से मिला है। ससार की सत्ता विषयो मे राग होने से प्रतीत होती है। यह भली प्रकार समझ लो कि ससार जिसको प्रतीत होता है उसकी ही एक अवस्था है। अवस्था सुख के आधार पर जीवित है। पूर्ण दु ख होने पर अवस्था भग हो जाती है,ऐसा अनुभव है।

---

५ फरवरी १९४१

अपने से भिन्न मानी हुई सत्ता का शासन स्वीकार करना ही बन्धन है। मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति ही विचार है। मानी हुई सत्ता का अभाव ही यथार्थ ज्ञान है। स्वतन्त्रता प्रदान करने मे यथार्थ ज्ञान ही समर्थ है। जिस प्रकार औपधि का पूर्ण प्रभाव होने पर रोग की सत्ता मिट जाती है और औपधि भी शेप नही रहती उसी प्रकार पूर्ण विचार होने पर अविचार मिट जाता है और विचार-शक्ति भी शेप नही

रहती। भूख भोजन को और भोजन भूख को खा लेता है, उसी प्रकार भोक्ता भोग को और भोग भोक्ता को खा लेता है। भोग और भोक्ता की सत्ता स्वरूप से एक है, पूर्ण भोग होने पर दोनों की दूरी मिट जाती है। एक ही दो होकर दो होते हैं, अर्थात् अनन्त सख्याओ की सत्ता सिर्फ एक की सत्ता से है, क्योकि अनन्त सख्या एक से ही प्रतीत होती है। एक न हो तो अनन्त सख्या प्रतीत नही हो सकती। माने हुए अहं से संसार की प्रतीति और बिना माने हुए अह से परमात्म-तत्व का अनुभव होता है।

एक माने हुए अहं से ससार की अनेक सत्ताएँ प्रतीत होती हैं। एक माने हुए अह के मिटने से स सार की अनेक सत्ताएँ मिट जाती हैं। बिना माना हुआ अह नही मिटता, अतः परमात्म-तत्व नही मिटता। इकाई पर ज्यो-ज्यो शून्य बढ़ाते जाओ, मूल्य बढ़ता जाता है, यह सभी गणित वाले जानते है। इकाई-रहित शून्य का मूल्य कुछ नही रहता। इकाई का अर्थ क्या है? एक, शून्य का अर्थ 'कुछ नही', ऐसा होने पर अहं का अनन्त मूल्य हो जाता है। जिस प्रकार एक ही सत्ता के विना अनन्त सख्या की सत्ता सिद्ध नही हो सकती, उसी प्रकार एक अहं के बिना (इस स सार और उस परमात्मा की) सत्ता सिद्ध नही हो सकती, अर्थात् अहभाव की सत्ता से ही सभी सत्ताएँ प्रकाशित होती है, यह सिद्धान्त निर्विवाद सिद्ध है।

---

९ फरवरी १९४१

मानव-जीवन क्या है? भोग अर्थात् विषयो की चाह, मोक्ष अर्थात् आनन्द की चाह, इन दो प्रकार की चाहो से भिन्न

जीवन क्या है ? कुछ भी पता नही चलता। विपयो की चाह की पूर्ति के लिए ससार की आवश्यकता होती है। यद्यपि वेचारा ससार पूर्ति कर नही पाता, परन्तु भोग के लिए और कोई स्थान नही। अत: भोग का अभिलापी ससार की गुलामी त्याग करने मे असमर्थ हो जाता है। कुछ विचारशील भोगी धर्मानुसार भोग प्राप्त करने का प्रयत्न करते है। यद्यपि वे भोगी भोगियो की दृष्टि में श्रेष्ठ हैं, परन्तु शान्ति वे भी नही पाते। भोग दो वस्तुओ के मिलने पर होता है। दूसरे के काम आ जाना धर्मानुसार भोग है और दूसरो को अपने काम में लाने की चेष्टा करना धर्म-विपरीत भोग है। जो प्राणी धर्म नही जानते उनके हृदय मे यह भाव जीवित रहता है कि ससार मेरे काम आ जाय। यही दोनो भाव अच्छाई तथा बुराई के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह अच्छाई तथा बुराई दुःख से वचा नही पाती, वल्कि सच्चे दुःख को प्रकट करती है। बुराई से पवित्र दु ख नही हो पाता। हृदय में ईर्प्या की आग जलती है। ईर्प्या-युक्त प्राणी दूसरे के काम आने मे असमर्थ हो जाता है। वह वेचारा भी अपनी उन्नति नही कर सकता, क्योकि उसे इर्ष्या की आग से फुरसत नही मिलती। पवित्र दुःख होने पर संसार का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। ससार का ज्ञान होते ही भोग की चाह का अन्त हो जाता है। भोग की चाह का अन्त होने ही व्याकुलापूर्वक आनन्द की चाह उत्पन्न होती है। असह्य व्याकुलता वढ जाने पर आनन्दघन आनन्द की चाह पूर्ण कर देते हैं। दोनो प्रकार की चाह का अन्त होने पर जीवन ही मे जीवन का अन्त हो जाता है, जो प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य है।

जीवन यद्यपि किसी भी काल मे स्थिर नही है, फिर भी

जीवन की आशा शेप क्यो रहती है ? यदि इस पर विचार किया जाय तो यही मालूम होता है कि जीवन जीवन का अन्त करने के लिये मिला है। जो बेचारे जीवन मे जीवन का अन्त नही कर पाते वही जीवन की आशा मे फँस जाते है। जीवन की आशा दु ख की कमी मे अच्छी मालूम होती है। दुःख की कमी अविचार से होती है। विचार का जन्म होते ही हृदय दु ख से भर जाता है। पूर्ण दुःख होते ही दु.खहारी हरि दु ख हर लेते है। जिस स्थान पर दुःख नही पहुँचता वही कुछ विकार रह जाता है। अत. पूर्ण दु ख आनन्द के लिए परम आवश्यक है।
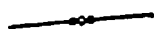
जीवन का निरादर करना परम भूल है। चाह रहते हुए चैन से रहना जीवन का निरादर है। सब प्रकार की चाह का अन्त कर देना ही जीवन का सच्चा आदर है। दु ख की कमी होने पर तथा केवल अपने ही दुःख से दुखी होने पर अभागी चाह जीवित रहती है। दूसरो के दु.ख से दुखी होने पर सच्चा दु ख होता है और दु ख मिटाने मे शरीर तथा ससार असमर्थ है। व्याकुलता उन्नति के लिए परम साधन है, क्योकि यही भगवान् की योगमाया है। यह सब कुछ कर सकती है। यह सभी विकार मिटाने के लिए अग्नि के समान एव सभी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कल्पतरु के समान है। व्याकुलता वह शक्ति है जिसकी समानता करने के लिए भगवान् भी असमर्थ हैं, क्योकि उनके यहाँ व्याकुलता नही है। गोपियों की व्याकुलता मे फँसकर वे अपने अनन्त ऐश्वर्य- माधुर्य को

भूल गये, यह सभी भक्त जानते है। विचारो, प्रीतम को मिलने की रुचि ही प्रिया का स्वरूप है और वह रुचि जिसमे विलीन हो जाती है वही प्रीतम है। प्रिया-प्रीतम का मिलन ही जीवन का परम लक्ष्य है। भक्त का हृदय ही वृन्दावन है, जिसमे प्रिया-प्रीतम अनेक लीलाएँ करते है, अर्थात् भक्त का हृदय विरह के दु:ख तथा मिलन के आनन्द से हरा-भरा रहता है। इस रस का आस्वादन करने मे सच्चा दुखी समर्थ है। यह रस सुखी प्राणी को कभी नही मिलता। दुखी के लिए ससार मे कोई स्थान नही है ऐसा सभी दुखियो का अनुभव है।

ससार उस पर ही शासन करता है, जो संसार की ओर देखता है। यदि ससार पर शासन करना चाहते हो, तो ससार की ओर मत देखो। जो स सार की ओर नही देखता, सं सार उसके पीछे दौडता है, ऐमा विचारशील का अनुभव है। विचारशील स सार से अपनी पूर्ति का कभी अनुभव नही करता, बल्कि यथाशक्ति सं सार के काम आ जाता है। स सार के काम आ जाना ही सच्ची सेवा है, जिससे हृदय शुद्ध हो जाता है। हृदय शुद्ध होने पर व्याकुलता उत्पन्न होती है। व्याकुलता उत्पन्न होने पर कुछ भी शेप नही रहता।

ज्ञान की जिज्ञासा होने पर ज्ञान स्वय हो जाता है। इद्रिय, मन, बुद्धि आदि ज्ञान की पूर्ति में असमर्थ हैं। इन सबका त्याग ज्ञान की चाह होने पर अपने आप हो जाता है, सिर्फ विषयो की चाह की पूर्ति मे बुद्धि आदि साधन है। बुद्धि जिस सत्ता का निश्चय करती है उसको स्वय नही जानती। बुद्धि के विना

विषयों की चाह की पूर्ति में प्रवृत्ति नही हो सकती। बुद्धि की
सहायता के बिना करने का भाव दृढ नही होता। सत्य की
अभिलाषा दृढ होने पर बुद्धि महारानी चुप बैठ जाती है।
विषयो की चाह होने पर बुद्धि महारानी विषयो पर शासन
करती है। विचार करो, स्थूल तत्वो, जैसे पृथ्वी तथा जल
पर कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियो के आश्रित रह कर काम करती हैं।
शव्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयो को मन,इन्द्रिय आदि
से विषय करते हैं और आकाश को केवल बुद्धि से ही विषय
करते है, उसे किसी वाह्य इन्द्रिय से नही जानते है। प्रत्येक
विषय मे करने का कार्य कर्मेन्द्रियो द्वारा और तत्सम्बन्धी ज्ञान
ज्ञानेन्द्रियो द्वारा होता है। कर्म ज्ञान की अपेक्षा स्थूल है, इस
कारण कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियो के अधीन ही काम करती है,
परन्तु आकाश को तो किसी भो वाह्य इन्द्रिय द्वारा विषय नही
कर पाते, उसे तो बुद्धि द्वारा ही विषय करते हैं। पृथ्वी, जल
अग्नि, वायु आदि तत्वो की अपेक्षा आकाश मे सूक्ष्मता तथा
व्यापकता विशेष है, अत. बुद्धि से आकाश जाना जाता हैं।
इसके आगे वेचारी बुद्धि जा नही पाती। जो वस्तु जितनी
अधिक सूक्ष्म होती है, वह उतनी अधिक विभु अर्थात् व्यापक
होती हैं। इसी कारण पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि से आकाश
अधिक बडा और सव मे व्यापक है, क्योकि ये सव उसी में
स्थित है। इसी कारण जब बुद्धि सम हो जाती है, तब समाधि
मे सबसे बडा रस आता है। वह रस भी स्थायी आनन्द नही
दे पाता। स्थायी आनन्द का अभिलाषी अपने को बुद्धि से
ऊपर उठा लेता है। बुद्धि महारानी स सौर की सभी वस्तुओ में
श्रेष्ठ है, परन्तु प्रीतम (सत्य) से अभेद करने मे असमर्थ है।
प्रीति का स्वय प्रीतम से अभेद होता है। सव प्रकार की चाह

का अन्त होने पर प्रीति का जन्म होता है। चाह-युक्त प्राणी प्रीति का अनुभव कर नही पाता। प्रीति प्रीतम की परम शक्ति है। प्रीति तथा प्रीतम का मिलन ही यथार्थ ज्ञान है, जो प्रेम, योग, आनन्द आदि नाम से प्रसिद्ध है। अभागी चाह ने प्रीति को ढक लिया है। विचारो, प्रीतम से मानी हुई दूरी तथा ससार से माना हुआ सम्वन्ध है। दोनों की चाह मिट जाने पर मानी हुई दूरी तथा माना हुआ सम्वन्ध मिट जाता है, क्योकि विपयो की चाह होने पर ससार से सम्वन्ध होता है। ससार से सम्वन्ध होने पर ससार प्रतीत होता है। संसार की सत्ता केवल प्रतीतिमात्र है, क्योकि वह किसी के पकडने मे नही आई। ससार से सम्वन्ध-विच्छेद होने ही सत्य की चाह सत्य की कृपा से ही पूर्ण होती है। भोग तथा आनन्द दोनो की चाह का अन्त होते ही वनावटी माने हुए जीवन का अन्त हो जाता है। वनावटी जीवन का अन्त होते हो अनन्त नित्य जीवन का अनुभव होता है। यह जीवन प्रत्येक मानव को प्राप्त हो सकता है, इसमें तनिक भी सन्देह नही। इसलिए नित्य जीवन के लिए भविष्य की आशा तथा किसी प्रकार के वाह्य सगठन का करना परम भूल है।

जो प्राणी अपनी वास्तविक अभिलापा का पता लगा लेता है, वह उन्नति अवश्य कर लेता है। वास्तविक अभिलाषा की पूर्ति के लिए वेचारा ससार असमर्थ है। अतः संसार की सहायता से उन्नति की खोज करना परम भूल है। प्रेम-पात्र से

मिलने के लिए व्याकुलता ही परम साधन है। भोग की चाह ही वास्तव मे संसार है, क्योकि भोग की चाह न रहने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आदि तथा ससार सभी बेकार हो जाते हैं। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से सम्बन्ध न रहने पर माना हुआ अहभाव आनन्दघन प्रेम-पात्र से अभिन्न हो जाता है, अत प्रत्येक मानव आनन्दघन अनुभव करने के लिए सर्वथा समर्थ है। आनन्द उसको नही मिलता जो आनन्द से निराश होता है। आनन्द से मानी हुई दूरी तथा ससार से माना हुआ सम्बन्ध है। सब प्रकार की चाह का अन्त होने पर मानी हुई दूरी तथा माना हुआ सम्बन्ध मिट जाता है। अभिलापा रहते हुए चैन से रहना महान् पाप है।

साधारण प्राणी न जानने के कारण आनन्द अनुभव करने के लिए ससार की सहायता की खोज क्यों करते हैं? इस पर विचार किया जाय तो यही मालूम होता है कि वे बेचारे अपने को शरीर समझकर ससार के गुलाम बन जाते हैं, क्योकि शरीर संसार का जुज है। यदि वह प्राणी विचार-पूर्वक शरीर को ससार की सेवा में लगा दे, तो वह आनन्द अनुभव करने के लिए समर्थ हो सकता है, क्योकि सेवक का हृदय दुखियो के दु ख से हरा-भरा रहता है। यह नियम है कि जब जीवन मे सुख नही रहता तब जीवन का राग मिट जाता है। राग मिटते ही त्याग अपने आप आ जाता है। अत या तो दुखियो की सेवा करो अथवा एक से प्रेम करो, अथवा कुल का त्याग करो, इसके सिवा और किसी प्रकार आनन्द का अनुभव नही हो सकता। दुखियो की सेवा वह कर सकता है जिसको अपने लिए संसार की आवश्यकता नही होती।

एक से प्रेम वह करता है जिसका अनेक से सम्वन्ध नहीं रहता। कुल का त्याग वह कर सकता है जो माना हुआ अह-भाव मिटा देता है। साधारण प्राणी एक एक क्रिया को वदल कर कालान्तर में अहंभाव को वदलते है। विचारशील प्राणी अहंभाव को वदलकर सारी क्रिया को एक साथ वदल देते हैं और सच्चा प्रेमी अहभाव को मिटाकर प्रेम-पात्र को पा लेता है। 'मैं भक्त हूँ' अथवा 'मैं जिज्ञासु हूँ' ये दो प्रकार के अहंभाव ऐसे होते हैं कि जिनसे प्राणी शीघ्र से शीघ्र उन्नति कर सकता है।

नोट—'अभिलापा' एक ओर 'चाह' अनेक होती हैं, क्योंकि अभिलाषा अभिलापी का स्वरूप है जो वास्तव मे लक्ष्य तक पहुँचने मे समर्थ है। गहराई से देखो, लक्ष्य की अप्राप्ति मे लक्ष्य की अभिलाषा होती है। अभिलापा किसी प्रवृत्ति की नहीं होती, वल्कि अभि-लापी जिसकी अभिलाषा करता है, वह (लक्ष्य) उसका स्व-रूप हो जाता है और फिर किसी प्रकार की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति शेप नही रहती।

१४ फरवरी १९४१

अभिलापा के शेष न रहने पर सर्वोत्कृष्ट जीवन का अनुभव होता है, क्योकि उससे ऊँचा और कोई जीवन नही हो सकता। यही जोवन की पराकाष्ठा है। आवश्यक अभि-लापा की पूर्ति और अनावश्यक इच्छाओं की निवृत्ति करना ही परम पुरुपार्थ है। विचार को कमी से अभिलाघा तथा इच्छाएँ शेष रहती हैं। पूर्ण विचार होने पर अभिलाषा की पूर्ति तथा इच्छाओ का अन्त होता है, अथवा यो कहो कि विचार का उदय होते ही अभिलापा शेष नही रहती। अभि-लापा रहते हुए चैन से रहना महापाप हैं, क्योंकि व्याकुलता

ही अभिलाषा को पूर्ण करने मे समर्थ है। प्रत्येक प्राणी व्याकुलता का ऋणी है, क्योकि व्याकुलता ही प्रेम-पात्र से अभेद करती है। प्रेम-पात्र मे अभेद होने पर करने का भाव शेष नही रहता। अत· व्याकुलता के प्रति मानव प्रत्युपकार कर नही पाता। इस दृष्टि से व्याकुलता का ऋणी होना भली प्रकार सिद्ध हो जाता है। व्याकुलता-रहित जीवन जीवन नही। मानव-जीवन पूर्ण आनन्द के लिए मिला है। आनन्द व्याकुलता से ही मिल सकता है और किसी प्रकार नही। जिस प्रकार सभी मिठाइयो में मीठापन चीनी का होता है, उसी प्रकार सभी अच्छाइयो मे अच्छापन व्याकुलता का होता है। त्याग, प्रेम, ज्ञान यह सभी व्याकुलता के बच्चे हैं।

सन्त-वाणी

१४ फरवरी १९४१

जो दोप जिस समय मालूम हो उसके अतिरिक्त दोष का दूसरे काल में सद्भाव रखना परम दोप है, क्योकि जिसको हम अपने मे मान लेते है उसका निकलना असम्भव हो जाता है। अत 'मैं दोषी हूँ' इस भाव को स्थान मत दो, बल्कि यह भाव करो कि 'मैं निर्दोष होने के लिए प्रयत्न कर रहा हूँ!' दोपो का सम्बन्ध तथा सद्भाव दोषो को निमन्त्रण देकर बुलाने का अर्थ रखता है। अपने प्रेम-पात्र की पवित्रता पर पूरा विश्वास करो। कपूत पूत भी माता की ओर जाने मे भय नही करता। इस भाव के अनुसार अपवित्र होने पर भी पतित-पावन की ओर निर्भयतापूर्वक शीघ्र से शीघ्र जाने के लिए

प्रयत्न करो, अर्थात् उनके विना चैन से न रहो, यही प्रयत्न है। पूर्ण पवित्रता तो उनसे अभेद होने पर मिलेगी। सच्चा एकान्त तिव्वत की कन्दराओ मे नही है। प्रेमी और प्रेम-पात्र के सिवा किसी तीसरे को स्थान न देना ही सच्चा एकान्त है, जो बाजार में भी हो सकता है। जीवन में एकनिष्ठता की कमी है। उस कमी को सच्चे सम्बन्ध से पूरा करो। जप से मन का निरोध नही होता, वल्कि मन की सफाई होती है। जिस प्रकार गन्दी नाली साफ करते समय बदबू अधिक आती है। उसी प्रकार साधन करते हुए मन मे ठहरा हुआ विकार निकलता है। मनोराज्य विरह की अग्नि मे जलता है, अथवा विचार से मिटता हैं। शुभ कर्म से तो सिर्फ सच्चा सम्बन्ध उत्पन्न होता है। प्यारे, सच्चाई सबको मिलती है, इसलिए सच्चाई से निराश नही होना चाहिए। सच्चाई निरन्तर प्रतीक्षा कर रही है। एक बार सबसे बिमुख होकर उसकी ओर देखो। आगे पीछे का चिन्तन मत करो। आगे पीछे का चिन्तन मिटते ही वर्तमान मे व्याकुलता उत्पन्न होगी, इसमें तनिक भी सन्देह नही है।

---

९ फरवरी १९४१

(१) जिस प्रकार मिट्टी का ज्ञान करने के लिये घड़े को तोडना आवश्यक है, उसी प्रकार स्वरूप-ज्ञान के लिए वृत्तियों का अभाव अर्थात् पूर्ण निरोध तथा निरोध से असगता आवश्यक है। मिट्टी का यथार्थ ज्ञान होने पर अनन्त घडो के स्वरूप में भी मिट्टी ही प्रतीत होती है। प्यारे, यह भली प्रकार सीख लो कि ज्ञान होने से पहले ज्ञान का अर्थ सीखना परम

भूल है। सत्पुरुष तथा सत्शास्त्र साधन से अतिरिक्त कुछ नही कहते। साधन जिज्ञासु की खुराक है, दिमाग का रोग नही। सभी साधन जीवन का स्वरूप हो जाने पर उसी प्रकार मिट जाते है जिस प्रकार खा लेने पर भोजन। भोजन के मिटते ही भूख भी नही रहती, यह सभी जानते हैं, अर्थात् जिज्ञासु तथा साधन दानो का अन्त हो जाता है। तत्पश्चात् स्वरूप से भिन्न कुछ भी शेप नही रहता। ससार भी अपने से भिन्न कुछ नही होता। क्रिया और ज्ञान का प्रश्न भी निरर्थक हो जाता है।

(२) अनित्य की चाह मिटने पर माने हुए अहंभाव की सभी टांगे टूट जाती हैं। सिर्फ नित्य की अभिलापा के आधार पर वह बेचारा सिसकता है, जिसे व्याकुलता की अग्नि जला देती है। वस, उसी काल मे माना हुआ अहभाव निर्मूल हो जाता है। साधारण प्राणी व्याकुलता का काम दिमाग से ले लेते है, इसलिए विवेक और अविवेक की क्रियाओ का निरन्तर रहना स्वीकार करते हैं। क्रिया का जन्म अविवेक से होता है, इस दृष्टि से क्रियाएँ सभी अविवेक हैं। यह आप जानते हैं कि बडवानल जल से उत्पन्न हो जल को खा लेता है और स्वय भी मिट जाता है।

(३) साक्षात्कार होने पर,क्या है, उसका अनुभव होगा। अविवाहित कन्या विवाहिता के अनुभव को किसी प्रकार नहीं जान सकती। वृत्तियो की असगता वृत्ति से नही होती, बल्कि पूर्णतया राग-रहित होते ही स्वरूप की कृपा से ही होती है। राग व्याकुलता की अग्नि से ही पूर्णतया जलता है, और किसी प्रकार नही। तो फिर रजोगुणी अथवा सत्वगुणी वृत्ति का

कथन ही बेकार है। सत्वगुणी वृत्ति रजोगुणी वृत्ति पर शासन करती है। सविकल्प समाधि में राग होने से सत्वगुणी वृत्ति का आदर रहता है। बोध मे किसी प्रकार की आसक्ति शेष नहीं रहती। आसक्ति-रहित अवस्था मे वृत्ति आदि का कथन करना असम्भव सा है। ब्रह्माकार वृत्ति उपासना की बढ़ी हुई अवस्था है, बोध नही। वृत्ति का अभाव समाधि की अवस्था है, बोध नही।

(४) अहंवृत्ति रोग है और अहस्फूर्ति औषधि है। औषधि रोग को निवारणकर स्वय नष्ट हो जाती है, अथवा यो कहो कि आरोग्यता से अभिन्न हो जाती है। जो शेष रहता है, वही साक्षात्कार है, उसमें क्रिया नही होती। अहस्फूर्ति जीवन में सिर्फ एक बार होती है, अनेक बार नही। तो फिर ज्ञान और क्रिया की एकता कैसी ? ज्ञान मे क्रिया और क्रिया में ज्ञान यही तो अज्ञान था। फिर चेतन मे क्रिया कैसे शेष रहती है ? जड़ न होने का अर्थ सिर्फ इतना है कि अपने मे किसी प्रकार का अवस्था-भेद नही रहता, क्योकि अवस्था-भेद जड मे होता है। जड़ और चेतन दोनो का वृत्ति के बिना एक समय में कथन नही कर सकते। कथन अनुपस्थिति में होता है। चेतन के प्रमाद मे वृत्ति-द्वारा चेतन का कथन होता है, अनुभव नही। चेतन का अनुभव होने पर जड़ के कथन की आवश्यकता नही रहती। आवश्यकता-रहित क्रिया नही होती, यह सभी जानते है।

(५) विराग राग को और विवेक अविवेक को हटाता नहीं, वल्कि खा लेता है। खाते ही स्वय भी मर जाता है। अतः राग रहित होने पर क्रिया शेष नही रहती। राग तथा-अविवेक को हटाना दु ख की कमी में रहता है। ऐसी क्रिया वह प्राणी

करता है जिसके हृदय और दिमाग मे एकता नही है। दिमाग के वल से राग मिटाया नही जा सकता, दबाया जाता है, इस लिये बार २ हटाना पडता है। दुःख की कमी को पूरा कर दो, राग-विराग दोनो मिट जायँगे। राग-विराग मिटते ही स्थिति स्वाभाविक है, यद्यपि स्थिति भी बोध नही है, क्योकि वह भी एक अवस्था है।

(६) स्वरूप निश्चय नही होता, बल्कि स्वरूप का बोध होता है। यह निश्चयवाली बात अज्ञान काल मे ज्ञान को बढ़ाने के लिए कहते हैं। प्यारे, शास्त्र साधन है, सिद्धान्त नही। जिसने शास्त्र नही सुना वह बोध-काल मे अबोध-काल का कुछ नही जानता। बोध मे अबोध और अबोध में बोध का मिलाना यह सस्ते छापेखाने की महिमा है। शास्त्र गुरु के द्वारा यदि पढ़ा होता, तो अज्ञान-काल मे ज्ञान सीखना नही होता बल्कि साधन करना होता है।

(७) वैराग्य-काल मे स्वरूप निश्चय करने की फुर्सत नही होती, क्योकि स्वरूप का निश्चय तो अनुभव से होता है। वैराग्य फांसी की सजा है। बोध अमरत्व है। फाँसी-काल और अमरत्व मे कोई सधि का कथन नही हो सकता। सिर्फ यही संकेत किया जा सकता है कि फाँसी काल का पूर्ण होना अमरत्व का उदय है। वैराग्य की सत्ता राग के आधार पर जीवित है। वैराग्य अग्नि और राग लकड़ी के समान है। राग का अन्त होते ही वैराग्य कुछ नही।

(८) चाह की पूर्ति तथा निवृत्ति मे बड़ा भेद है। पूर्ति होने पर उत्पत्ति आवश्यक है, परन्तु निवृत्ति होने पर उत्पत्ति नही हो सकती। नित्य की चाह तब होती है, जब अनित्य की

चाह निवृत्त हो जाती है, पूर्ण नही। नित्य की चाह निवृत्त होने पर बोध होता है, जो चाह से परे है। नित्य और अनित्य की चाह के आधार पर ही मानव-जीवन अथवा माना हुआ अहभाव निर्भर है। दोनों प्रकार की चाह निवृत्त होने पर माने हुए अहभाव अथवा जीवन मे जीवन का अन्त हो जाता है, अर्थात् अनन्त जोवन का अनुभव होता है।

(९) यदि बुद्धि में स्वरूप-निश्चय अथवा ससार की निराश पहले से ही मान ली जायगी तो पूर्ण व्याकुलता नहीं होगी। ससार से निराशा होने पर हृदय मे पूर्ण व्याकुलता की अग्नि जलेगी। उसी अग्नि मे से एक ऐसी चीज उत्पन्न होगी, जो नित्य की जिज्ञासा जागृत कर उसे पूरा कर देगी और वह अग्नि आनन्द में विलीन हो जायगी। निराशा मानी नही जाती, हो जाती है। स्वरूप निश्चय नही किया जाता, बोध होता है। बुद्धि स‌ंसार से भिन्न का कुछ भी व्यापार नही कर सकती, इसमें तनिक भी सन्देह नही है। कृपया बुद्धि को अब आप आराम करने दीजिये।

(१०) सत्य की अभिलाषा सत्य को मानकर नही की जाती, बल्कि मानी हुई अहम् की कामनाओं से सत्य की अभिलाषा ढक सी जाती है। माना हुआ अहभाव अथवा विपयो की रुचि इन दोनो का स्वरूप एक है। स सार से निराश होते ही विपयो की रुचि मिटती है। उस काल मे सत्य की अभिलापा शेष रहती है। उस अभिलाषा के आधार पर ही अहभाव सिसकता है। उसको दुखी देख दु.खहारी हरि विचार के स्वरूप मे प्रकट हो दु ख को सदा के लिए हर लेते है। स‌ंसार माना जाता है, आस्तिकता जानी जाती है, पानी

नही जाती। मरने का डर विषयी को होता है। ससार से निराश होने पर जीवन ही में मृत्यु का अनुभव होता है परन्तु जो वास्तविक रुचि अर्थात् लालसा है, वह मिट नही पाती। जब वह मिटती अर्थात् पूरी होती है, तब आस्तिकता का अनुभव हो जाता है। मानी हुई आस्तिकता तो आस्तिकता का निरादर करना अर्थात् उसका स्वाग वनाना है।

(११) अभाव उसका होता है, जो स्वरूप से न हो और प्रतीत हो। क्या मानी हुई सत्ता अर्थात् प्रतीति के प्रतीत होने पर भी कोई अपने को शरीर स्वीकार करता है, कदापि नही। सव यही कहते हैं "मेरा शरीर है।" शरीर "अपने" को कोई नही कहता। तो फिर विचार उदय होने पर तो मानी हुई सत्ता अर्थात् प्रतीति का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नही हो सकता। अत: वह बोध रूप ही है, जिस प्रकार दर्पण मे प्रतीत होने वाली आकृति दर्पण से भिन्न नही है अर्थात् मानी हुई सत्ता किसी भी काल मे नही थी। अभाव विचाररूप तथा निर्विचाररूप दोनो से अतीत है। विचार-कर्त्ता विचार नही कर पाता, बल्कि प्रेम-पात्र ही विचार के स्वरूप में प्रकट हो कर्त्ता-भोक्ता का अन्त कर उनको अपने से अभेद कर लेते हैं।

व्याकुलता से मत डरो। दिमाग से अधिक काम मत लो। दु:ख की कमी को शीघ्र पूरा करो। दु.खहारी हरि दु:खहरण करने के लिए प्रकट होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

प्यारे देखो, आनन्द की अभिलापा कोई मिटा नही पाता। अभिलाषा अप्राप्त दशा में होती है, अत: आनन्द को देखा भी नही, फिर भी आनन्द की अभिलाषा होती है। इससे भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि आनन्दघन भगवान् प्रत्येक मानव

को बुला रहे है। देर न करो। शीघ्र इधर से उधर देखो। ऐसा करते ही वे स्वय अपना लेगे।

---

१२ फरवरी १९४१

साधारण प्राणी विचारमार्ग मे भी विश्वासमार्ग के उसूलों को मिलाते है। विचारमार्ग में ज्यों-ज्यो विचार वढ़ता जाता है, त्यो-त्यो क्रिया की कमी होती जाती है। पूर्ण विचार होने पर पूर्ण अक्रियता, पूर्ण अक्रिय होने पर पूर्ण अनुभव और पूर्ण अनुभव से पूर्ण आनन्द स्वयं हो जाता है, अर्थात् फिर किसी प्रकार की कमी शेप नही रहती। स्मरण, चिन्तन, ध्यान तो विश्वासमार्ग के आधार पर होते हैं, विचारमार्ग से तो प्रेम-पात्र का सग होता है। सग और ध्यान आदि मे भेद। ध्यान आदि से अवस्था होती है और संग से स्वरूप। संग एक बार और ध्यान आदि अनेक बार। संग होने से पूर्व, विचार से पूर्ण अस गता होती है। क्रिया उसकी अनुभूति कराती है, जो करने के काल से प्रथम नही था। क्रिया से उत्पन्न होने वाली सत्ता अनन्त काल तक नित्य नही रह सकती। इसीलिए प्रत्येक क्रिया का रस, कभी न कभी नीरस हो जाता है। सत्य क्रिया तथा भाव का विषय नही, वल्कि भाव तथा क्रिया सत्य के विपय है। सत्य से ही सभी की सत्ताएँ प्रतीतिमात्र सत्य है। यह वात भी सत्य का अनुभव होने से पूर्व स्वीकार करना भूल है, क्योकि विचारमार्ग वर्तमान परिस्थिति के अनुभव से आरम्भ होता है। प्यारे, भोग की रुचि का अन्त होने पर वुद्धि महारानी की क्या आवश्यकता रहती है? वताओ तो सही। वुद्धि महारानी का सग छूटते ही स्वरूप-स्थिति में क्या सन्देह

है ? कहो तो सही। इन दोनो प्रश्नो को स्वय हल कर लो। ससार की सभी वस्तुओ से बुद्धिदेवी श्रेष्ठ हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नही है, किन्तु सत्य तक जाने मे असमर्थ हैं, यह परम सत्य है। विचार की पूर्णता क्रिया और ज्ञान का विभाग करती है, विभाग होते ही माना हुआ अहभाव क्रिया का संग छोड़ ज्ञान का संग करता है। उसका सग करते ही बेचारे की मृत्यु हो जाती है। जब तक बेचारा क्रिया का संग करता था तब तक परमप्रिया बुद्धि महारानी अपने अनेक चमत्कार दिखा-कर उसे जीवित रखती थी। इसी कारण माना हुआ अहंभाव बुद्धि में विशेप आसक्त रहता है। इस आसक्ति को व्याकुलता की अग्नि ही जला सकती है। विचार का उदय पूर्ण व्याकुलता के बिना किसी प्रकार नही हो सकता। अतः शीघ्र से शीघ्र व्याकुलता की शरण लो। व्याकुलता बढने पर बुद्धि महारानी अनेक बार धोखा देती हैं। इनकी बातों में मत आओ। पूर्ण जिज्ञासा अधिक काल तक जीवित नही रहती, अर्थात् जिज्ञासु को चैन से नहीं रहना चाहिये। विश्वासमार्ग काल आदि की अपेक्षा करता है। विचारमार्ग में किसी की अपेक्षा नही है। जो जिज्ञासु चैन से रहता है वह जिज्ञासु नही है। जिज्ञासु के जीवन में सुख लेशमात्र नही रहता। सुखी प्राणी किसी प्रकार भी जिज्ञासु नही हो सकता। सुख से निराशा होते ही बेचारा ससार अपना मुँह फेर लेता है।

---

१९ जनवरी १९४१

यह भली प्रकार समझ लो कि सत्य भाषा तथा भाव दोनों से परे है। कथक उसका होता है जो अपना पूर्ण स्वरूप नहीं

होता। ज्ञान और क्रिया का विभाग जो 'विचार' है वह 'विचार' निश्चय नही है, वरन् अनुभव है। निश्चय वुद्धि महारानी की क्रिया है। विभाग होने पर तो अपरोक्ष-वोध होना चाहिये। वोध में स्वाभाविक प्रीति होने से मानी हुई सत्ता का अभाव स्वयं हो जाता है। विचार तथा अविचार दोनो अवस्थाये हैं, अर्थात् कार्य-कारण के समान है क्योकि अविचार जनित वेदना ही विचार को जागृत करती है। अविचार अर्थात् विचार की कमी) विचार-जन्य क्रिया को उत्पन्न कर सकता है, परन्तु (विचार का) 'अभाव' क्रिया उत्पन्न करने मे असमर्थ है। अभाव तो वोध होने पर होता है। ज्ञान और क्रिया का विभाग होने वाला 'विचार' वुद्धि-जन्य क्रिया नही है, क्योकि वुद्धि महारानी का सग न होने पर विभाग होता है। विभाग करने वाले विचार के स्वरूप मे दु खहारी हरि प्रकट होते है। व्याकुता की अग्नि में जव राग जल जाता है, तव पूर्ण विचार के स्वरूप मे प्रकट होकर कर्त्ता, भोक्ता और माने हुए स्वभाव का वध कर प्रेम-पात्र अपने से अभिन्न कर लेने है। इस दृष्टि से विभाग होने पर परोक्ष ज्ञान नही कहा जा सकता। परोक्ष ज्ञान की आवश्यकता तो विश्वास मार्ग के पथिक को होती है। विचार मार्ग तो वोध कराता है,क्रिया नही। वोध मे स्वाभाविक प्रीति विचार-मार्गी का अखण्ड ध्यान है। ज्यो-ज्यो प्रीति गाढी होती जाती है, त्यो-त्यो मानी हुई सत्ता का अभाव स्वरूप से होता जाता है। वोध होते ही प्रतीति होने पर भी तत्व-दृष्टि ही रहती है। उस दृष्टि पर ही सन्तोप करना प्रीति की कमी है। यद्यपि प्रीति मे वोध वढ़ नही जाता, परन्तु अनन्त शक्ति और शान्ति दोनो के लिये वोध मे प्रीति आवश्यक है। विभाग

होने पर बोध स्वय हो जाता है।

सग क्रिया का विषय नही, किन्तु अक्रिय होने पर अपने आप होता है। अक्रियता राग मिटने पर होती है और राग व्याकुलता से मिटता है। व्याकुलता भोग का यथार्थ ज्ञान होने पर होती है। ससार वास्तविक रुचि की पूर्ति में असमर्थ है, यह जान लेना ही भोग का यथार्थ ज्ञान है। बुद्धि महारानी अधिक से अधिक यही कार्य कर सकती हैं। संसार की आवश्यकता का अन्त होते ही बुद्धि महारानी आनन्द भवन में सोती हैं, अर्थात् निर्विकल्प-समाधि हो जाती है। निर्विकल्प बोध के लिये विचार भगवान् ही समर्थ हैं, जो स्वयं प्रकट होते है। क्रिया-जन्य रस नीरस है, इसको तो आप भली प्रकार समझ ही चुके हैं, उस पर अधिक लिखना उचित नही मालूम होता। अभागा राग, करने को मजबूर करता है। राग-रहित अवस्था मे तो स्वरूप-स्थिति स्वय हो जाती है। केवल राग मिटने पर स्वरूप-बोध नही होता। स्वरूप-स्थिति अथवा स्वरूप-बोध मे सिर्फ इतना ही अन्तर है कि स्वरूप-स्थिति का उत्थान होता है, परन्तु बोध का उत्थान नही होता। बोध और स्थिति दोनो का अभेद होना ही प्रीति तथा प्रीतम की अभिन्नता है। यद्यपि प्रीति प्रीतम से भिन्न किसी और में हो ही नहीं सकती, परन्तु जिज्ञासा आदि कामनाओ के कारण प्रीति और प्रीतम मे भेद सा प्रतीत होता है। सभी कामनाओ का अन्त होने पर अथवा ज्ञान और क्रिया का विभाग होने पर प्रीति प्रीतम में है, यह भली प्रकार बोध हो जाता है। कामनाओ का अन्त होने पर विभाग और विभाग होने पर कामनाओं का अन्त हो जाता है। विश्वासमार्गी भाव की प्रबलता के कारण अपने आपको समर्पित कर

कामनाओ का अन्त करता है और फिर विचार का अधिकारी हो प्रीति प्रीतम का मिलन कर निजानन्द मे छक जाता है। अत. विभाग अथवा समर्पण बुद्धि-जन्य क्रिया नही। भाव की प्रवलता होने के कारण समर्पण, और विचार की प्रवलता होने के कारण विभाग, रुचि की पूर्ति के लिये, स्वय होता है।

वास्तविक रुचि का स्थायी करना ही व्याकुलतापूर्वक जिज्ञासा है। रुचि की पूर्ति होने से प्रथम किसी सत्ता को स्वीकार करना विश्वासमार्गी के लिये अनिवार्य है। परन्तु विचारमार्गी रुचि के पूर्ण होने पर अनुभव कर सत्ता स्वीकार करता है। स्वीकार करने का काल, अस्वीकृति की भूल मिटाने के लिये; अहस्फूर्ति के रूप मे अनुभव होता है। स्वाभाविक अह मे प्रीति ही स्फूर्ति है। प्रीति की पूर्णता होने पर स्फूर्ति की कल्पना करना वेकार है। अहं की चेतना तथा आनन्द अह से अभिन्न है। अतएव स्फूर्ति आदि कल्पनाओ से अह अतीत है।

प्यारे, भापा तथा भाव दोनो से परे रहो। भाषा तथा भाव किसी की सत्ता प्रकाशित नही करते, किन्तु सकेत करते हैं। सकेत की सत्ता तव तक आवश्यक है जव तक प्रीति तथा प्रीतम अविचल भाव से अभिन्न नही हो जाते। असगता प्रीतम का सग कव कराती है ? इसके लिए किसी भी काल की कल्पना हो नही सकती। वस. यही कहा जा सकता है कि पूर्ण असंगता से सग हो जाता है। जिस प्रकार नीद की अभिलाषा होने पर निद्रा का अभिलापी यह नही जान पाता कि किस काल मे सो गया, उसी प्रकार प्रेम-पात्र के सग का अभिलाषी पूर्ण असंग होने पर यह नही जान पाता कि सग किस काल मे हो गया। असंगता जीवन की वास्तविक सुन्दरता है, जो

व्याकुलता की कृपा से मिलती है। व्याकुलता की पूर्णता का अर्थ असंगता और असगता का अर्थ इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के दरवाजो का बन्द होना, अर्थात् निजानन्द से भर जाना है।

---

२० फरवरी १९४१

(१) वृत्तियो का निरोध यद्यपि एक अवस्था है, किन्तु अवस्था से परे होने के लिए निरोध आवश्यक है। क्रिया-जन्य निरोध और स्वाभाविक निरोध मे अन्तर है। असग होने पर स्वाभाविक निरोध होता है और भाव के आवेश मे आकर क्रिया-जन्य निरोध होता है। क्रिया-जन्य निरोध किसी प्रकार की शक्ति देने वाला अवश्य है, पर शान्ति देने में असमर्थ है। असंगतापूर्वक स्वाभाविक निरोध शक्ति तथा शान्ति दोनो के लिए समर्थ है। जिस प्रकार फल का मूल्य देने से वगीचे की छाया तथा वायु बिना मूल्य मिलती हैं, उसी प्रकार तत्त्व-ज्ञानपूर्वक तत्त्व-निष्ठ होने से निरोध अर्थात् योग स्वाभाविक हो जाता है। विश्वासमार्गी प्रथम निरोध का और फिर कृपा-साध्य विचार उत्पन्न होने पर असगता तथा अभेद का अनुभव करता है। इस दृष्टि से निरोध हृदय तथा दिमाग की एकता-वाला विचार (साधन) अवश्य है। बोध के लिये जिस विचार की आवश्यकता है, वह तो रागरहित होने पर अर्थात् भोग का यथार्थ ज्ञान होने पर होता है तथा तीव्र व्याकुलता बढ़ने पर दुःखहारी हरि विचार के स्वरूप मे प्रकट होते है। साधारण प्राणी विचार के साधन को विचार, ज्ञान के साधन को ज्ञान अथवा निरोध के साधन को निरोध मान लेते है। राग से कामना उत्पन्न होती है, कामनाओ के आधार पर ही माने हुए

अहभाव मे क्रिया होती है। कामना-रहित होते ही अहंभाव की सत्ता तथा क्रिया शेप नही रहती। उस काल में विचार भगवान् गुरुदेव के स्वरूप मे प्रकट होते हैं। वह विचार सिर्फ जीवन में एक बार होता है। जो विचार प्रयत्न पूर्वक किया जाता है वह वास्तव मे विचार नही। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश होते ही अन्धकार नही रहता, उसी प्रकार विचार का उदय होते ही अविचार शेप नही रहता। यदि फिर अन्धकार न हो तो प्रकाश की कल्पना की नही जा सकती, उसी प्रकार यदि अविचार न हो तो फिर विचार की कल्पना की नही जा सकती।

(२) वृत्ति कभी चेतन नही होती। चाहे रजोगुणी हो अथवा सत्वगुणी। क्रिया पर अक्रियता शासन करती है। इस दृष्टि से सत्वगुणी वृत्ति रजोगुणी से आदरणीय है। जिस प्रकार बहुत बढिया शीशे के अन्दर लैम्प की रोशनी प्रतीत होती है, उसी प्रकार सत्वगुणी वृत्ति में चैतन्यता प्रतीत होती है। वास्तव में सत्वगुणी वृत्ति मे चैतन्यता लेशमात्र भी नही है, जैसे शीशे में प्रकाश लेशमात्र नही रहता।

(३) अहंस्फूर्ति अज्ञान नाश करने में समर्थ है, परन्तु स्फूर्ति की संज्ञा निरर्थक है, क्योकि स्फुरण वृत्ति-जन्य ज्ञान है। सत्य कल्पनातीत है। जब तक प्रमाद होता है, तब तक अह-स्फूर्ति आदर-योग्य है। प्रमाद-रहित तत्त्व निष्ठा होने पर अहं से भिन्न कुछ है ही नही, अतः उसमें स्फूर्ति की कल्पना करना अपना कोई अर्थ नही रखता। जिस प्रकार दो की अपेक्षा एक गणना है, एक की अपेक्षा एक नही, उसी प्रकार अह वृत्ति की अपेक्षा अह-स्फूर्ति बोध है।

(४) जब तक असत् जड़ दुःखरूप की सत्ता स्मृति मे शेष

है तब तक अह में सत्-चित् आनन्द की निष्ठा अनिवार्य है। आत्मा का प्रकाश, आनन्द तथा सत्ता अभिन्न है' अर्थात् उनमे भिन्नता नही की जा सकती, क्योकि जो सत् है वही चित् है, वही आनन्द है।

(५) अनुभव से पूर्व जिज्ञासा काल में चेतन का कथन होता है, वस यही उसकी अनुपस्थिति है, वास्तव में तो "है" का अभाव है ही नही। 'चेतन है' ऐसा कथन तब होता है, जव चेतन की जिज्ञासा होती है। जब तक किसी प्रकार की दूरी न हो तब तक जिज्ञासा बन नही सकती, अर्थात् सभी कथन अभिलाषा होने पर होते हैं। जिस प्रकार भोग की चाह होने पर ही संसार की प्रतीति तथा ससार का कथन होता है, उसी प्रकार चेतन (योग) की अभिलाषा होने पर चेतन आदि का कथन होता है। चाह आवश्यकता होने पर अथवा सुनने पर होती है। आवश्यकता होने पर सच्ची चाह तथा सुनने पर बनावटी चाह भी होती है। सच्ची चाह अधिक काल तक ठहर नही पाती, पूर्ण हो जाती है और बनावटी चाह अधिक काल तक ठहरती है। उसी चाह के आधार पर जड़ होकर चेतन का कथन करते है। भला अन्धकार ने कही सूर्य को और सूर्य ने कही अन्धकार को देखा है? प्यारे, जड़ होकर जड़ का अनुभव करते हो, चेतन होकर चेतन का। चेतन की चाह होने पर तीव्र व्य कुलता से भिन्न कुछ नही होना चाहिये। इस दृष्टि से जड़ और चेतन का कथन एकमात्र वृत्ति के सिवाय और क्या है?

जड में अवस्था-भेद होता है, चेतन में नही। इसकी विशद व्याख्या सुलझे को उलझाने के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं

रखती, क्योंकि जड और चेतन का विभाग भी जिज्ञासु को समझाने के लिए कल्पनामात्र है। तत्त्व-दृष्टि से सच्चिदानन्दघन से भिन्न कुछ है ही नही। प्रतीति की सत्ता को स्वीकार करना ही जड को स्थापित करना है। प्रतीति का अभाव होकर चेतन का अनुभव होते ही चेतन से भिन्न कुछ भी शेष नही रहता। प्रतीति के साधन बदलने पर प्रतीति बदल जाती है, इस दृष्टि से जड मे अवस्थाभेद सिद्ध होता है।

(६) हृदय तथा दिमाग की एकता होने पर निरर्थक भाव ठहर नही पाते, अर्थात् वही भाव उत्पन्न होते है जो जीवन का स्वरूप हो जाते हैं। हृदय और दिमाग के एक होने पर सच्चाई का व्यवहार होता है। वह प्राणी अपने आपको धोखा नहीं दे पाता, उसको आगे-पीछे का बेकार चिन्तन करने की फुर्सत नही मिलती, वह बेचारा असत् होकर सत् की बाते नही करता। वह प्रीतम की प्रसमा सुनकर ही सन्तोष नही करता।

(७) विषय-राग उसी समय तक जीवित है, जब तक दु ख की कमी पूर्ण नहीं होती। दु ख की कमी पूर्ण होने पर विषयों में राग लेशमात्र भी शेप नही रहता। दु ख की कमी पूर्ण करने के लिए विश्व के साथ नाता स्थापित करना अनिवार्य है। संसार से भिन्न होकर जो दुःख है, वह तो सिर्फ दुःख का ज्ञान कराने के लिए समर्थ है। दु.ख का ज्ञान होने पर विश्व का दुःख अपना दु.ख होना चाहिये, यही दुःख का पूर्ण होना है।

(८) अनुभव से भिन्न कथन करना ही बोध में अबोध और अबोध मे बोध का मिलाना। प्यारे, विचारो तो सही कथन तो तब करते हो जब प्रतीति नही करते। प्रतीति-काल में कथन नही होता- सिर्फ प्रतीति की स्मृति धारण कर कथन

करते हो। स्मृति भी राग के कारण होती है। यह भाव सूक्ष्म
अधिक है, अत. गहराई से देखो, तब यथार्थ मालूम देगा। जब
प्रतीति का ही कथन नही कर सकते तब अनुभव का कथन
किस प्रकार कर सकते हो ? क्योकि अनुभव होने पर अपने से
भिन्न कुछ शेष नही रहता, फिर कौन किसका कथन करे ?
प्रतीति भी पकडने में नही आती, फिर स्मृति के आधार
पर कथन करना कहाँ तक सत्य है ?

(९) यदि ज्ञान की बाते सुन नही रक्खी होती, तो वैराग्य-
काल मे स्वरूप निश्चय करने की फुरसत नही मिलती। गहराई
से देखो, राग के आधार पर बेचारा अहभाव जीवित रहता है।
जव राग रहा नही, तब सिर्फ रुचि (अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त
माधुर्य) की अपूर्ति के आधार पर बेचारा माना हुआ अहभाव
सिसकता रहता है। उसको घोर दु ख मे देख विचार-भगवान
प्रकट होकर रुचि को पूर्ण करते हैं, क्योकि स्वरूप का निश्चय
नही किया जाता, अनुभव होता है। निश्चय करना तो बुद्धि-
देवी का व्यापार है। स्वरूप तो बुद्धि अथवा चाह दोनो से परे
है। प्यारा स्वरूप भाषा तथा भाव से अतीत है।

(१०) जो विचार घोर व्याकुलता होने पर उत्पन्न होता है
वह उत्पन्न होते ही अपना कार्य पूण करता है, अर्थात् मानी
हुई सत्ता की अस्वीकृति कर स्वय वोध कराता है। यदि मानी
हुई सत्ता की अस्वीकृति के लिए बार-बार प्रयत्न करना पडता
है तो दोनो विचारो मे भेद हो सकता है, नही तो कुछ नही।
पूर्ण व्याकुलता होने पर नैन-बैन आदि की क्रिया रुक जाती
है। केवल जिज्ञासा के आधार पर प्राणमात्र शेष रह जाता
है। घर मे वन और जीवन मे मृत्यु प्रतीत होती है। सुख की

सत्ता मिट जाती है। वेचैनी की एकनिष्ठता हो जाती है। यह भली प्रकार समझ लो कि एकनिष्ठता होने पर सफलता अवश्य होती है, इसमें तनिक भी सन्देह नही है। अत पूर्ण व्याकुलता होने पर पूर्णता अनुभव होती है, यही व्याकुलता की पूर्णता है।

(११) विचार तथा निर्विकार इनके विषय मे क्या कहा जाय ? विचार होते ही अविचार नही रहता और न विचार रहता है। तो फिर निर्विचार की सत्ता क्या है ? यदि अविचार के अभाव को निर्विचार कहा जाय, तो उचित नही मालूम होता, क्योकि अविचार का अभाव होते ही बोध होता है।

(१२) अभाव को निर्विचार के अतीत यो कहा कि जो विचार अनेक बार होता है, उस विचार की थकावट निर्विचारता है। यदि विचार होने पर फिर विचार नही होता तो निर्विचारता तथा अभाव एक हैं।

(१३) कर्त्ता वही होता है,जो भोक्ता होता है अथवा कर्त्ता विचार नही कर पाता। विचार भगवान् तो व्याकुलता बढ़ जाने पर स्वय उत्पन्न होते है।

प्यारे, जब सच्चाई भाव तथा भापा से परे है, तो फिर उसकी व्याख्या ही क्या हो सकती है ? सत्य से जातीय एकता है और असत्य से मानी हुई एकता है। मानी हुई एकता मिटाने के लिये व्याकुलता परम औषधि है।

---

५ मार्च १९४१

(१) 'संग होने से पूर्व विचार से पूर्ण असंगता होती है। असंगता का पूर्ण होना ही संग हो जाना है, क्योकि असंगता

और संग के बीच में कोई जगह खाली नही रहती। यद्यपि अनात्मा की स्वरूप से सत्ता नहीं है, परन्तु ज्ञान और क्रिया का विभाग होने पर स्वीकार की हुई सत्ता से असगता हो जाती है। असंगता का कथन असगता होने से पूर्व ही रहता है, क्योकि पूर्ण असग होने पर अनात्म-भाव का अन्त हो जाता है। जब अनात्म-भाव ही नही रहा तो असंगता किससे और कैसी ? अविचार के बिना विचार की सिद्धि नही हो पाती, जिस प्रकार रोग के बिना औषधि। रोगी को औषधि की सत्ता स्वीकार करना परमावश्यक है। अतएव अविचार काल मे विचार की सत्ता स्वीकार करना परमावश्यक है।

(२) 'क्रिया उसकी अनुभूति करती है जो करने के काल से प्रथम नही थी', इस वाक्य के लिखने का भाव सिर्फ यह था कि क्रिया-जन्य रस तथा भाव-जन्य रस मे आसक्ति न हो, अथवा यों कहो कि क्रिया से सत्य को खरीदने का प्रयत्न न किया जाय, जो असम्भव है। कुछ विचारमार्गी विश्वासमार्गी के समान ज्ञान के चिन्तन को ज्ञान मारकर चिन्तन-जन्य रस मे आसक्त हो विशेष अवस्थाओ मे सन्तुष्ट हो जाते हैं, यद्यपि बेचारे स्थायी नित्य शान्ति नही पाते, फिर भी ज्ञानाभिमान के रस में फँसकर अपने को ज्ञानी मान बैठते है, अर्थात् अहग्रह उपासना आदि को ही ज्ञान मान लेते हैं। अहग्रह उपासना से अन्त करण आदि अनात्म वस्तुओ मे विशेष शक्तियाँ रुचि के अनुसार आ जाती हैं। उनमे फँसकर निर्मल शुद्ध बोध से विमुख हो जाते हैं।

(३) 'जो' से प्रयोजन उन विशेष अवस्थाओ आदि से था जो क्रिया आदि से उत्पन्न होती है। क्रिया और भाव बुद्धि आदि के

विपय है। विपय-राग होने पर बुद्धि आदि साधनों की आवश्यकता नही रहती, क्योकि जिन साधनो से विपयो की ओर जाते है। उन साधनो से सत्य की ओर नही जा सकते, ऐसा अखण्ड नियम है। वोध का प्रधान हेतु राग-रहित होना है, क्योकि राग ही अवोध का कारण है। विचार राग को खा लेता है। इस दृष्टि से विचार को क्रियारूप से नही माना, यद्यपि साधारण प्राणी की दृष्टि मे विचार भी एक पवित्र क्रिया है, परन्तु यह क्रिया सभी क्रियाओ का अन्त अर्थात् ज्ञान और क्रिया का विभाग है। ज्ञान मे क्रिया और क्रिया मे ज्ञान माना हुआ प्रतीत होता है। वास्तव मे तो ज्ञान में क्रिया और क्रिया मे ज्ञान स्वरूप से हो नही सकता, क्योकि ज्ञान अनन्त, विभु एव स्वय-प्रकाश है। वेचारी क्रिया पर-प्रकाश्य, जड़ तथा सीमित है। सीमित से असीम तथा जड़ से चेतन, मिल नही सकता। सीमित का त्याग असीम के अनुभव का साधन अवश्य है।

---

(१) जगत् के स्वरूप में भी निज-स्वरूप का अनुभव होना वोध है, ऐसा होते ही तत्त्व-दृ ट होती है। जगत् के स्वरूप में निज-स्वरूप का अनुभव होना यद्यपि वोध है, परन्तु प्रीति की कमी इसलिये कथन की कि तत्त्व-ज्ञान होने पर निर्विकार स्वरूप मे क्रियारूप विकार (जगत्) का प्रतीक होना, जो वास्तव मे स्वरूप से नही है, ज्ञान निष्टा की कमी से ही है। निप्ठा की कमी ही प्रीति की कमी है। प्रीति क्रिया नही है, बल्कि पूर्ण अक्रियता है, क्योकि क्रिया का जन्म कामना से होता हैं, और कामना-युक्त दशा मे प्रीति हो नही पाती। अतः प्रीति का जन्म तब होता है जब कामना नहीं रहती, अथवा यों कहो कि

प्रीति प्रीतम का स्वभाव है, अतः प्रीति को प्रीतम में ही विलीन करना आवश्यक है।

(२) भेद-भाव से तो प्रीति होती ही नही, अथवा प्रीति होने पर भेद भाव रहता नही। गहराई से देखो, प्रीति जिससे होती है, उसका त्याग नही किया जा सकता। त्याग किसका नही किया जा सकता ? यदि इस पर विचारा जाय तो यही मालूम होता है कि कोई भी 'अपना' त्याग नही कर पाता। अतः प्रीति 'अपने' मे हुई, तो फिर बताओ कि वह भेद तथा दूरी कैसे बढा सकती है ? अर्थात् नही बढा सकती, बल्कि वह तो दूरी एव भेद को मिटाती है। बिना प्रीति के ज्ञान तो सभी को प्राप्त है, क्योकि ज्ञान की ही सत्ता से अज्ञान (स सार आदि) की सत्ता प्रकाशित होती है। प्रीति से ज्ञान की निष्ठा दृढ होती है।

(३) बोध होने ही 'प्रतीति' शेष रहने पर भी तत्त्व-दृष्टि रहती ही है। इस तत्त्व-दृष्टि का अर्थ स सार के स्वरूप में निज स्वरूप का अनुभव होना है। विश्वासमार्गी जिस प्रकार 'यह जो कुछ है, वह प्रेम-पात्र का है' अनुभव करता है, इसी प्रकार विचार मार्गी 'यह जो कुछ है, मेरा ही स्वरूप है,' ऐसा अनुभव करता है। निष्ठा बढ़ जाने पर 'यह जो कुछ' भी मिट जाता है।

(४) बोध मे प्रीति 'आवश्यक' निष्ठा के लिये है और किसी लिये नही। यद्यपि बोध स्वय निष्ठा है, परन्तु निजानन्द से अन्तःकरण का छक जाना, सुन्दरता पर श्रृङ्गार के समान हैं।

निर्वासनिक होने पर प्रीति का उदय होता है। प्रीति

क्रिया नही है; अत. वह अभेद नही होने देगी, ऐसी शंका बन नही सकती।

---

(१) विश्वासमार्गी प्रेम-पात्र की सत्ता पर विश्वास कर प्रयत्न पूर्वक निरोध करता है, परन्तु ज्ञान और क्रिया का विभाग करने मे असमर्थ होता है। उस विभाग के करने की शक्ति का उदय कृपा-साध्य है, क्योकि यदि क्रिया-साध्य कहा जाय तो विश्वास मार्ग ही कैसा ? विश्वास-मार्ग का अनुसरण भाव की प्रबलता तथा विचार की कमी मे होता है। भाव-प्रधान वाणी कृपा पर भरोसा करता है, क्रिया पर नही। गहराई से देखो, विचार तो क्रिया-साध्य है भी नही। विचार तो कृपा-साध्य ही है, क्योकि क्रिया बुद्धि आदि से होती है और विचार बुद्धि से असग करता है। अतः विचार क्रियासाध्य नही हो सकता। विचारमार्गी स्वरूप की कृपा का अनुभव करता है और विश्वासमार्गी अपने इष्ट-देव की।

(२) अनात्म-भाव को त्यागकर आत्म-भाव का अनुभव करना ही तत्त्वज्ञान का अर्थ है।

---

१० मार्च १९४१

[ओलो की वर्षा होने पर प्रकृति द्वारा जनता के अनहित होने का प्रश्न उपस्थित होने पर समाधान—]

(१) प्रकृति प्राणी की माता के समान है। जिस प्रकार माता अपने बालक की इच्छाओ की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार की रचनाये करती हैं, उसी प्रकार प्रकृति प्राणी की इच्छाओं की पूर्ति के लिये अनेक प्रकार की रचनाये करती है। माता की कोई भी क्रिया बालक के अनहित के लिये नही होती, यह सभी

बालक जानते है, तो फिर 'प्रकृति माता अनहित करती हैं' यह बात कहने के लिये स्थान नही रहता। कोई भी दण्ड ऐसा नही होता कि जिससे सुधार न हो, तो फिर प्रकृति का न्याय गलत कैसे हो सकता है ? यदि प्रकृति की सारी क्रियायें दुःख का कारण है तो फिर हित का कारण किसकी क्रियायें हैं ? जो बुद्धि प्रकृति की भूल निकालती है, क्या वह प्रकृति की नही है ? प्रकृति से ही प्रकृति की भूल निकालना किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? अपने शरीर का मोह धारण कर दूसरे शरीरो के सुख-दुख से सुखी-दुखी होकर अपने शरीर के मोह को जीवित रखने का प्रयत्न सज्जनता, उदारता आदि के नाम से कथन किया जाता है। प्रकृति की स्वाभाविक क्रियाये अहितकारी किसी प्रकार नही हो सकती, क्योकि कोई भी अपने साथ अहित नही करता। शरीर आदि प्रकृति के है, अतः उनके सुधार मे प्रकृति भूल नही कर सकती। प्रकृति की भूल सिर्फ राग-द्वेप के कारण दिखाई देती है।

(२) जगत् नाना रूपवाला है। यह बात सिर्फ इतना ही बता पाती है कि 'जगत् में रहकर जगत् के विषय में बात करना।' जगत् क्या है ? यह तो तब कहा जा सकता है जब हम जगत् से अलग हो। जगत् से अलग होकर जगत् एक वस्तु है, अनेक नही, क्योकि जगत् का नानात्व जगत् होकर प्रतीत करते हो; जगत् होकर जगत् को जान नही पाते, अतः जगत् मे नानात्व है, यह बात किसी प्रकार सिद्ध नही होती। जगत् की प्रतीति करने वाला, प्रतीति के साधन तथा प्रतीति ये तीनो वस्तुयें एक हैं, क्योकि प्रतीति और प्रतीति के साधन इन दोनो से असग होने पर प्रतीति करने वाला शेष रहता है।

उसका अनुभव होने पर जगत् का अनुभव नही रहता, बल्कि जगत् उसको अपनी एक अवस्था मालूम होती है। अवस्था अवस्थावाले से भिन्न नही होती, अत जगत् मेरा ही स्वरूप है, यह बात भलो प्रकार सिद्ध हो जाती है। जल का ज्ञान होने पर लहर जल से भिन्न नही है, उसी प्रकार जगत् का यथार्थ ज्ञान होने पर जगत् निज-स्वरूप से भिन्न नही है। जल-दृष्टि होने पर लहर-दृष्टि शेष नही रहती, फिर लहर मे नानात्व है, यह कैसे कहा जा सकता है।

एक जीवन से भिन्न और कुछ विचार-दृष्टि से देखने में नही आता। आपको जो कुछ प्रतीत होता है वह केवल आपका राग है। राग-रहित होने पर जगत् क्या है, इस पर विचार करो। राग-रहित होते ही बुद्धि आदि की चेष्टा सम हो जाती है, फिर किन साधनो से जगत् ना नानात्व अनुभव करते हो? शब्द, स्पर्श, रूप,रस, गन्ध से भिन्न प्रतीति किसकी होती है? वह प्रतीति विषयो के राग के सिवाय और क्या अर्थ रखती है? राग-युक्त बुद्धि जगत् के स्वरूप को कैसे जान सकती है? राग विना जगत् की प्रतीति कहाँ है? इन सब कारणों पर विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि जिसको जो प्रतीत होता है, वह उसकी एक अवस्था है, अर्थात् जगत् मेरा ही स्वरूप है।

(३) सुख 'थकावट' है, यह बात सब प्रकार से सत्य है। प्यारे, जिस काल में जिस सौन्दर्य का अनुभव करते हो, क्या उस काल में उससे और विशेष सौन्दर्य की कल्पना नही हो सकती? यदि हो सकती है तो फिर वह सौन्दर्य कैसा? अर्थात् वह सुन्दरता सुन्दरता नही रह जाती। परन्तु फिर भी

सुन्दरता मानकर (जानकर नही) सुख का रस चखते हो। क्या किसी भी काल में सुन्दरता स्थिर है ? यदि स्थिर नही तो सुन्दरता की सत्ता क्यो स्वीकार करते हो ? यदि सत्ता स्वीकार नही करते तो सुन्दरता का रस क्यो चखते हो ? यदि रस नही चखते तो सुख कहाँ ? यदि रस चखते हो तो सुन्दरता का ज्ञान कहाँ ? यदि सुन्दरता का ज्ञान है तो सुन्दरता की स्थिरता कहाँ ? क्योकि परिवर्तन प्रवाहवत् निरन्तर है। जब प्रतीति की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती, तो फिर सुख की सत्ता कैसे सिद्ध हो सकती है ? जब सुख की सत्ता ही सिद्ध नही होती, तो सुख थकावट नही तो क्या है ? संसार को देखने की दृष्टि बन्द करके सुख का अनुभव करते हो। विषयों की सुन्दरता तत्त्व-वेत्ता को प्रतीत नहीं होती, क्योंकि स्वरूप से नहीं है। विषयी बेचारा स्वरूप को जान नही पाता, अतः विषयी का कथन विषयों के विषय में माननीय नही हो सकता, क्योकि उस बेचारे को विषयों का ज्ञान तो है नही। भूला हुआ सुखी जिस काल मे सुख की सत्ता का अनुभव करता है, क्या उस काल में वह सुख के स्वरूप को जानता है ? अर्थात् नही जानता।

प्यारे, जिसकी सत्ता तुम स्वीकार कर लेते हो वही शासन करता है। अतः अपने से भिन्न किसी भी काल मे किसी की सत्ता को स्वीकार न करो।

---

२१ मार्च १९४१

यदि बुद्धि महारानी से ऊपर उठने में कुछ भय मालूम होता है, तो उसका अर्थ यही होता है कि अभी बुद्धि की आवश्यकता

है। यह आवश्यकता तब तक रहती है, जब तक बुद्धि महारानी से वह काम नही करते जो करना चाहिये। गहराई से देखो, जो साधन विषयो मे प्रवृत्त कराने मे समर्थ है, वे सत्य का अनुभव कराने मे असमर्थ है।

(१) बुद्धि आदि द्वारा प्रकृति की भूल पकड़ना यही अर्थ रखता है कि 'कुल' भूल करता है और 'जुज' भूल पकड़ता है, यद्यपि 'जुज' हर काल मे कुल के आश्रित है, अर्थात् परतन्त्र है। जुज़ को जो कुछ हानि दिखाई देती है वह जुज़ का दोष है, कुल का नही। गहराई से देखो, क्या आँख सूरज का दोष पकड़ सकती है? क्या आँख सूरज से अधिक देख सकती है? आँख बिगड़ जाने पर भले ही सूरज को गालियाँ देती रहे, वास्तव में तो सूरज बेचारा अनन्त आँखों को देखने की शक्ति प्रदान करता है। शक्ति प्रदान करते हुए भी बिगडी हुई आँख नही देख पाती, यह आँख का दोप है। आँख मे आसक्त बुद्धि सूर्य की व्यर्थ आलोचना करती है। भोक्ता को भोग प्रकृति ही प्रदान करती है। जब भोक्ता भोग करने के योग्य नही रहता है, तब छीन लेती है। छीनते समय भोक्ता भोग-दाता माता पर आक्षेप करता है, यह उसका राग है और कुछ नही।

प्रकृति माता पूर्णता देने मे असमर्थ है, क्योकि वह स्वयं पूर्णता की ओर दौड रही है। विपयी प्रकृति पर आक्षेप कर नही पाता, क्योकि उसके विना रह नही पाता और वीतराग का उससे सम्बन्ध नही रहता, अत. वह भी कुछ नही कह सकता। दैवी आपत्तियो से बचाने का अभिमानी यूरोप आज किस दशा मे है? देखो तो सही, प्रकृति बेचारी अपनी अपूर्णता का परिचय देकर अपने (पूर्ण) प्रीतम की ओर जाने के लिये

निरन्तर सकेत करती है। अत सभी दृष्टियों से यही भली प्रकार ज्ञात होता है कि कुल से जुज की हानि नही होती। यदि यह स्वीकार करते हो कि कुल जुज की हानि करता है, तो जुज कुल से अलग क्यो नही हो जाता ? जब तक जुज कुल से अलग नही हो पाता तब तक कुल पर जुज़ का आक्षेप करना शोभा नही देता। जुज कुल से अलग होने में सर्वदा असमर्थ है, क्योकि कुल से भिन्न जुज की कोई सत्ता ही नही। बीमारी आदि की कपोलकल्पना तो सिर्फ इसलिए की थी कि ओलों द्वारा हानि देखने का तो प्रयत्न किया, किन्तु वह हानि भविष्य में क्या अर्थ रखती है, इस पर दृष्टि नही की। वर्तमान की क्रिया पर ही दृष्टि रखना दृष्टि की सकीर्णता है। 'टुकड़ो' को देखकर 'कुल' पर आक्षेप करना क्या कपोलकल्पना नही ? अनन्त संसार अनन्त भोगो को भोग रहा है, क्या वह प्रकृति से नही मिले हैं ? गहराई से देखो, जो जानवर गर्म स्थान से बर्फ के स्थान पर चला जाता है वह बेचारा सर्दी से बचने के लिये कपड़े नही बनवा पाता, तो प्रकृति माता अपने उस दीन बालक के शरीर पर बड़े-बड़े बाल उत्पन्न कर सर्दी से बचा लेती हैं। भोग-दृष्टि से प्रकृति माता भोक्ता का सर्वस्व है, अर्थात् भोगी को प्रकृति का आदर करना ही होगा। जो भोगी प्रकृति का विरोध करते हैं, उनमे भोगने की शक्तिहीनता आ जाती है, जिस प्रकार बिजली के आविस्कार से आँख की दुर्बलता हो गई है, ऐसा डाक्टर मानते हैं।

प्यारे, प्रकृति से लड़ने के लिये भी तो प्रकृति की ही सहायता लेते हो, किन्तु प्रकृति सहायता देने के लिये इन्कार

नही करती । विपयी के लिये प्रकृति कल्पतरु है । विपय-पूर्ति के लिये प्रकृति अनुकूल साधन प्रदान करती है, यही प्रकृति का हित करना है । क्या आप यह नही मानते कि दु ख से सुधार होता है ? जव दु ख से सुधार होता है तव दण्ड से सुधार हुआ, इसमें क्या सन्देह है ? कमी को जीवित रखने के समान और क्या अपराध होगा ? क्या यह अपराध उन प्राणियो का नही है जो दैवी घटनाओ से दुःख का अनुभव करते हैं ? क्या पूर्ण होने पर यह कमी मिट नही जाती ? अतः कमी का जीवित रखना महान् अपराध है और कमी न रहना सुधार है । इस दृष्टि से दण्ड तथा सुधार दोनो ही ज्ञात है । कोई प्राणी सव प्रकार के दैवी विघ्नो से बच नहीं सकता, जव तक तत्त्वनिष्ठ न हो जाय । अतः विघ्नो से बचने का अभिमान कथनमात्र है । प्यारे, व्यर्थ-चेप्टाओं का निरोध करो । तत्त्वनिष्ठ होने ही के लिये निरन्तर प्रयत्न हो । जातीय अभिलापा की पूर्ति के लिये माना हुआ सम्वन्ध असमर्थ है । मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति जातीय अभिलापा पूर्ण करने के लिये परमावश्यक है ।

(२) 'जगत् मेरा ही स्वरूप है' यह तत्त्व दृष्टि है, अर्थात् ज्ञान है । ज्ञान से जगत् की सत्ता का अभाव है स्वरूप का अर्थ सत्ता है न कि जगत् । जगत् एक मेरी ही अवस्था है, यह विवेक दृष्टि है । विवेक-दृष्टि से असगता होकर निज-स्वरूप का वोध होता है, अर्थात् तत्त्व-दृष्टि हो जाती है । 'जगत् मेरा ही स्वरूप है' इस दृष्टि से ही जगत् का अभाव होता है और विज्ञान अर्थात् तत्त्व-निष्ठा हो जाती है ।

सिनेमा के समान विराट् ससार को देखना ही राग है ।

इस राग से तत्व-ज्ञान नही हो पाता। सिनेमा और उसका देखने-वाला इन दोनो का विभाग करना विवेक है। विवेक होने पर तत्त्व-निष्ठा होती है और फिर सिनेमा की सत्ता शेष नही रहती।

सिनेमा की सत्ता स्वीकार करने पर सिनेमा की वासना मिट नही सकती। विराट् भगवान् को सिनेमा के भाव से कथन करना, कथन करने के सिवाय और कुछ सार्थक अर्थ नही रखता। सिनेमा-भाव से विषयो का उपभोग करना विषयी की चतुरता है। प्यारे, विचारशील को तो विषयो का अन्त करना है। सिनेमा की दृष्टि से तो विषयो की रक्षा होती है, अतः इस दृष्टि से तो विषयो का नितान्त अन्त कर दो।

---

२६ मार्च १९४१

(१) जगत् का अभाव होने पर ही 'जगत् मेरा ही स्वरूप है' यह अनुभव होता है, क्योंकि जगत् की सत्ता न रहने पर अह की सत्ता शेष रहती है, स्वरूप का अर्थ सत्ता है।

(२) जगत् एक है, यह बात विवेक-काल की है। जगत् अनेक है, यह बात अविवेक-काल की है। विवेक ज्ञान नही,बल्कि अविवेक का अन्त करने में समर्थ होता है।

(३) यदि बोध है तो मनन क्यो करते हो ? क्योकि मनन तो बोध होने से पूर्व होता है। अवस्था का अनुभव जिन साधनों से हो वह साधन तथा अवस्था दोनो एक है, किन्तु अनुभवकर्त्ता साधन और अवस्था इन दोनो से भिन्न है, यह बात भी विवेक-काल की है, अथवा यो कहो कि साधन है।

(४) अनन्त सख्याये एक ही इकाई से उत्पन्न होती हैं, क्योकि इकाई की सत्ता निकलने पर सख्या कुछ नही रहती। अत. एक इकाई की संख्या ही सख्यारूप से प्रतीत होती है, और संख्या का ज्ञान होने पर इकाई ही शेप रहती है, अर्थात् जगत् का नानात्व एकत्व में विलीन होता है। गहराई से देखो, १ से ९ तक गणना होने पर अन्त में फिर एक ही शेष रहता है।

---

(१) वेदान्त की वात तो वेदान्तवाले जानें, अनेक ज्ञाता और अनेक ज्ञेय यह दोनो एक हैं, अर्थात् दोनों ही ज्ञेय है, क्योकि जिसको ज्ञाता कहते हो वह ज्ञेय की प्रतीति कराता है। प्रतीति क्या है, इसको प्रतीतति-कर्त्ता नही जानता। प्रतीति-कर्त्ता स्वरूप से एक होते हुए भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं। जिस प्रकार मिट्टी, साधारण कॉच, अथवा दूर्वीन का काँच तीनो का कारण एक ही है, अथवा यो कहो कि तीनों एक है। इन्द्रियाँ जिसको कुछ दिखाती हैं उसको वुद्धि महारानी कुछ और ही दिखाती है। इन्द्रियाँ तथा वुद्धि के बदल जाने पर प्रतीत भी वदल जाती है। इन्द्रियो तथा वुद्धि की चेष्टा में सिर्फ प्रतीति का अन्तर होता है। साधारण मानव प्रतीति के अन्तर को ज्ञान मान लेते हैं। अत. वे बेचारे नाना ज्ञेय और नाना ज्ञाता स्वीकार कर लेते हैं। प्रतीति ज्ञान नही होती, वल्कि विपय होती है। विपय का भोक्ता विपय को जान नहीं पाता। प्रतीति को स्वीकार करना ही प्रतीतिकर्त्ता का प्रतीति को भोग करना है। भोग तथा भोक्ता दोनो स्वरूप से एक होते हैं, क्योकि यदि भिन्न हो तो सम्वन्ध नही हो सकता। अतः अनेक प्रतीतियाँ

और अनेक प्रतीतिकर्त्ता ये दोनो ज्ञेय है। अथवा यों कहो कि भोक्ता और भोग दोनो एक है। भोक्ता और भोग दोनो से परे बोधस्वरूप ज्ञाता है, इस दृष्टि से ज्ञाता एक है, अनेक नही।

(२) समाज-भाव की एकता सिर्फ कल्पनामात्र है, क्योकि व्यक्ति-भेद होता है विराट्-भाव तो अनेक व्यक्तियो का एक शरीर है, जिस पर बार अनेक अग एक शरीर है।

(३) दु.ख का भोक्ता होता है, ज्ञाता नही। भोक्ता कभी ज्ञाता नही होता और ज्ञाता कभी भोक्ता नही होता। भोग और भोक्ता दोनों अनित्य हैं, ज्ञाता नित्य है। भोक्ता अनेक है, ज्ञाता एक है। गहराई से देखो, यदि शरीर के दुःख-भोक्ता को ज्ञाता मान लिया जाये तो भोक्ता कौन होगा? प्यारे, शरीर में अनेक कीटाणु अपनी रुचि के अनुसार भोग करते हैं, क्या शरीर के दु.ख का भोक्ता उन कीटाणुओं के सुख-दु.ख का ज्ञाता होता है? यदि दु.ख-भोक्ता और ज्ञाता एक होते तो प्रत्येक कीटाणु के सुख-दु.ख का ज्ञाता भी शरीर का दु.खभोक्ता होना चाहिये था, किन्तु ऐसा नही होता। जिसमे ममत्व का भाव होता है वह ज्ञाता नही होता, वल्कि भोक्ता है। ज्ञाता तो सर्वथा असंग है।

(४) सर्व शरीर-भाव होने पर समाज भाव आता है, विराट् भाव से सिर्फ एक शरीर होता है। 'सर्व शरीर का एक अभिमानी' यह कथन कुछ अर्थ नही रखता, क्योकि शरीर के सग से ही अभिमानी की कल्पना होती है। शरीर एक है, सर्व नही, क्या शरीर के कीटाणुओ का अभिमान प्रश्नकर्त्ता को होता है? क्या सब कीटाणुओ को निकाल देने पर शरीर

की सत्ता शेष रहती है ? जिस प्रकार अनेक कीटाणुओं की एकता ही एक शरीर है, उसी प्रकार अनेक शरीरो की एकता ही एक विराट् शरीर है। विराट् और शरीर इन दोनो का स्वरूप एक है। इस दृष्टि से विश्व एक जीवन है, अनेक नही।

---

(१) तत्त्व बुद्धि से परे है, उसको बुद्धि प्रमाणित नहीं करती, बल्कि सकेत करती है। बुद्धि महारानी तो सिर्फ चाह के अनुसार क्रिया में प्रवृत्त होती हैं। जब चाह-पूर्ति नही कर पाती तब चुप हो जाती हैं, अर्थात् सम हो जाती हैं। बुद्धि के सम होते ही विचार-भगवान् प्रकट होते हैं, जो ज्ञान और क्रिया का विभाग कर अपने से अभिन्न कर लेते हैं। बुद्धि महारानी सिर्फ प्रतीति के परिवर्तन को प्रकट करती हैं, प्रतीति क्या है, इसको नही जानती। यदि जानने मे समर्थ होती तो समाधि की कोई आवश्यकता नही रहती, अथवा यो कहो कि समाधि का कोई मल्य नही होता। यह सभी मानते है कि समाधि-जन्य रस बुद्धि-जन्य रस से श्रेष्ठ है। अतः बुद्धि महारानी अनन्त रस तक पहुँचाने में असमर्थ हैं। प्यारे, मनन कुल का होता है, टुकड़ो का नही। टुकड़ों का मनन तो कर्म है। कर्म ज्ञान का साधन नही होता, बल्कि भोग का दाता होता है। मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति के लिये जो प्रयत्न है, वही मनन है। मानी हुई सत्ता में विचरण करना मनन से विमुख होना है, अथवा व्याकुलता से बचने का उपाय है, क्योकि बुद्धि-जन्य क्रिया के आधार पर जीवित रहना जिज्ञासु को उचित नही

है। जब व्याकुलता की अग्नि मे मानी हुई सत्ता जल जाती है, तब विचार भगवान् आकर जली हुई अग्नि को शान्त कर देते हैं, अर्थात् फिर आनन्द की गगा लहराती है। विश्वास-मार्गियो की भाँति भविष्य की आशा पर जीवित मत रहो, बल्कि वर्तमान में ही पूर्ण जीवन का अनुभव करो ।

---

२९ मार्च १९४१

(१) यदि जुज को अपने व्यक्तित्व से मोह न हो तो क्या यह भाव उत्पन्न हो सकता है कि प्रकृति अहित करती है ?

(२) कुल का हित होने पर क्या जुज का हित होना शेष रहता है, जब कि जुज और कुल स्वरूप से अभिन्न है ?

(३) जुजरूप मे कर्त्ता भोक्ता जो प्रतीत होता है, क्या वह प्रकृति से उत्पन्न नही हुआ ? वह भी तो उसी प्रकृति का अंग है, भिन्नता देखना दृष्टि की कमी है।

(४) जुज में कर्त्तापन और भोक्तापन होता है, कुल में दातृत्व। यदि कुल में दातृत्व नही है तो फिर जुज मे दीनत्व कैसे आता है ? दीन का होना ही दाता को सिद्ध करता है। यदि प्रकृति दाता नही है, तो यज्ञादि द्वारा लोकान्तर की प्राप्ति व्यर्थ सिद्ध होगी, कर्मवाद की सत्ता शेष नही रहती। प्रकृति का मूल्य जिज्ञासु अथवा तत्त्ववेत्ता की दृष्टि में कुछ न हो, किन्तु भोगवादी तथा कर्मवादी के लिये तो प्रकृति ही सब कुछ है। जुज-बुद्धि तथा जुज-अह का कुल ईश्वर की माया और ईश्वर है, क्योकि बुद्धि माया से अभिन्न है और अहं ईश्वर से, इनमें केवल मानी हुई दूरी है। जुज-

अहं कुल के अह ईश्वर मे विल न होता है और वुद्धि माया मे विलीन होती है यह तत्त्व-वेत्ता को प्रत्यक्ष है।

(५) भोक्ता और भोग दोनो ही प्रकृति है। चैतन्य को भोग की आवश्यकता नही होती, वुद्धि महारानी भी प्रकृति ही है। यदि प्रकृति जड़ है, तो क्या वुद्धि चेतन है ? क्या बुद्धि अनेक वार प्रकृति के सामने दीन नही हुई है ? क्या थकावट दूर करने के लिये सुषुप्ति में विलीन नही होती है ? क्या 'अज्ञान' प्रकृति नही है, जिसमे वुद्धि विलीन होती है ? 'प्रकृति जड है' यह जड़ वुद्धि थोड़े ही कह सकती है ? यदि कहती है, तो वह स्वय जड है, जड़ को जड कैसे कह सकती है ? यदि कहती है तो अपने आपको धोखा देती है। हा, 'आप' भले ही कह सकने हो, क्योकि चैतन्य हो। प्रकृति 'है' मात्र है। यह सत्ता तो प्रकृति को आपने दी है, न कि वुद्धि ने। भला आप अपनी दी हुई सत्ता का कैसे तिरस्कार कर सकते हो ? यह अवश्य कर सकते हो कि उसको अपने ही में विलीन कर लो। वह वेचारी तो आपकी ओर निरन्तर दौड़ रही है।

(६) क—बुद्धि के न देख सकने से क्या भविष्य में लाभ नही होता ? क्या वर्त्तमान की मृत्यु भविष्य जीवन की दाता नही होती ?

ख—विपय की अरुचि से तो वर्त्तमान मे ही लाभ है, परन्तु भविष्य में तो भौतिक-लाभ होगा, क्योकि प्रकृति इच्छाओ की पूर्ति के अनुकूल क्षेत्र प्रदान करती है। क्या वर्त्तमान मे गला हुआ वीज अपने स्वभाव के अनुसार अपनी अनन्त सत्ता प्रकृति से नही पाता ?

ग—यह तो बीज से पूछो कि प्रकृति उदार है या सकीर्ण ।

घ—मोह का अन्त तो ज्ञान से होता है और किसी प्रकार नही । अथवा मोहवाली बात इस प्रसग मे लिखना व्यर्थ एवं असंगत है ।

(७) यदि सूरज जड़ है, तो आँख क्या चेतन है ? आँख बुद्धिपूर्वक देखती है, अथवा बुद्धि आँख द्वारा देखती है ? अथवा बुद्धि और आँख दोनो के द्वारा अहं देखता है ? अह की दृष्टि से सूरज जड़ है या आँख और बुद्धि की दृष्टि से सूरज जड हैं ? सूरज को जड़ अह की दृष्टि से कह सकते हो । आँख की दृष्टि से सूरज आँख का देवता है ।

(८) जुज को जो हानि दिखाई देती है, वह इसलिये कि वर्तमान परिस्थिति से जुज को आसक्ति है । गहराई से देखो, प्रत्येक जुज जब अपने को अत्यन्त शक्ति-हीन पाता है, तब स्वय मृत्यु का आवाहन करता है,अर्थात् कुल मे विलीन होना चाहता है । जुज की आन्तरिक दृष्टि मे कुल हितैषी है । जब तक जुज मे दु ख की कमी रहती है,तब तक कुल पर आक्षेप करता है।'अहित' जुज की भूल-दृष्टि है और 'हित' जुज की यथार्थ दृष्टि है । यहाँ 'हित' का अर्थ भोग-दाता से है, ज्ञान-दृष्टि से नही ।

(९) जब दैवी-आपत्तियो से नही बच सकते, तो बचने का प्रयत्न ही निरर्थक है ।

(१०) क्या आप यह नही जानते कि संकल्प करने की आवश्यकता ही अप्राप्त दशा मे होती है ? जज़ का सकल्प करने का अर्थ कुल से भिक्षा माँगना है ।

(११) थोड़ी आपत्ति से बचने पर बड़ी आपत्ति आती है। अत. विचारशील को कुल आपत्तियो से बचने का प्रयत्न करना चाहिये। धारा-प्रवाह शरीर काल-अग्नि मे जल रहा है, किसी आविष्कार से बचाओ। यदि आविष्कार से नही बचा सकते तो प्रकृति के समर्पण कर अपना पल्ला छुटा लो। प्रकृति की वस्तु पर अपना अधिकार करना क्या ईमानदारी है ?

(१२) यदि हित करना व्यर्थ है, तो क्या अहित करना सार्थक है ? यदि अहित करना सार्थक है तो वेचारे विषयियों के लिये कौन सा स्थान है ? कर्मवादी किस आधार पर जियेंगे ? स्वर्ग तक कौन ले जायेगा ? यज्ञ की सामग्री कौन पहुँचावेगा ? चन्द्रमा के बिना अन्न आदि मे रस कौन देगा ? सूर्य के बिना अन्न कौन पकावेगा ?

---

(१) देखनेवाला जब तक देखने की अभिलाषा करता है तब तक देखने का राग है, दीखने वाली सत्ता सत् हो अथवा असत्। असत् सिनेमा की आसक्ति भी बन्धन है। विषय और भोक्ता दोनो स्वरूप से एक हैं। केवल असत् समझना रागरहित होना नही है, बल्कि अपने से भिन्न किसी की भी आवश्यकता न हो यही निष्ठा रागरहित है। किसी और की आवश्यकता का होना ही राग है।

(२) राग-रहित निष्ठा से भिन्न सब कुछ राग है।

---

५ अप्रैल १९४१

प्रकृति-हितवाद की कल्पना प्रकृति-अहितवाद के लिये थी। वर्तमान स्थूल सृष्टि पर ही भरोसा करना बेचारे विषयी प्राणियो के लिये सीमित क्षेत्र कर देने के सिवाय और कुछ अर्थ नही रखता। हिन्दुओ का यज्ञवाद आदि जो आपके शब्दो में रूढिवाद आदि है, विषयी लोगो को वर्त्तमान विषय से विरक्त कराने में समर्थ है और बडे-बडे विशेष भागो में प्रवृत्ति का कारण है। इसके सिवाय उसका और कुछ मूल्य नही।

प्यारे, किसी भी पत्र मे मनाने के लिये आग्रह नही किया और कोई भी उत्तर विषयान्तर नही दिया। बिना पूछे अपनी ओर से प्रकृति के विषय मे कभी कुछ नही लिखा, पूछने पर जो भाव उत्पन्न हुआ प्रकट कर दिया।

भोग-इच्छा ससारवाद को स्वीकार करती है, अथवा यों कहो कि भोग-इच्छा ही ससार है।

मोक्ष की इच्छा ईश्वरवाद अथवा ब्रह्मवाद को सिद्ध करती है। ईश्वर-भक्त ईश्वर का वही अर्थ लेते हैं, जो जिज्ञासु निज स्वरूप का लेते हैं।

कोई भी शब्द अपना अर्थ आप तो प्रकाशित करते नहीं, इसलिए जो बात जिस भाव से कही हो उसको उसी भाव से देखो। शब्दो पर मत जाओ। दुखी को ससार मे स्थान नही मिलता, और सुखी को ईश्वर की आवश्यकता नही होती। विचार-मार्ग का अनुसरण करने पर किसी भी प्रकार का लेश-मात्र भी सशय शेष नही रहता किन्तु उसका अधिकारी होना चाहिये। कुछ कल्पनाओ को मानना और कुछ को न मानना यह तो विचार-मार्ग है नही। सभी कल्पनाओ का अन्त

होने पर बुद्धि की क्या आवश्यकता शेष रहती है ? अर्थात् कुछ नही। बुद्धि आदि के सम होने पर क्या स्वय प्रकाश तत्त्व का अनुभव नही होता ? अर्थात् अवश्य होता है, क्योकि बुद्धि की सम और विषम इन दोनो अवस्थाओं का बोध क्या निर्विकल्प बोध अथवा स्वय प्रकाश को नही है ?

निर्विकल्प बोध मे क्या सृष्टि की सत्ता शेष रहती है ? अर्थात् नहीं रहती। जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति तो शरीराभिमानी अहं की होती है, स्वय प्रकाश की नही।

माना हुआ अह मिटाकर क्या किसी प्रकार की चाह उत्पन्न कर सकते हो ? अर्थात् नही कर सकते। चाह-रहित होने पर क्या भोग तथा मोक्ष का प्रश्न शेप रहता है ? अर्थात् नही रहता। भोगेच्छा शेप रहने हुए ससारवाद मिट नही सकता और न मोक्षेच्छा शेष रहते हुए ईश्वरवाद (अध्यात्मवाद) ही मिट सकता है। दोनों प्रकार की इच्छाओ के आधार पर माना हुआ अह जीवित है। अत. उस माने हुए अह का अन्त होते ही दोनों वाद तत्त्वज्ञान में विलीन हो जाते है।

शरीर का पूर्ण स्वस्थ होना शरीर के स्वभाव से विपरीत है, क्योकि जिस प्रकार दिन और रात दोनो से ही काल की सुन्दरता होती है, उसी प्रकार रोग आरोग्य दोनो से ही शरीर को वास्तविकता प्रकाशित होती है।

[प्रकृति द्वारा जनता का अहित होने के प्रश्न के समाधान की समाप्ति]

---

४ अप्रेल १९४१

(१) सच्चाई जीवन की परम आवश्यक वस्तु है, परन्तु झुठाई की आसक्ति के कारण सच्चाई कठिन सी मालूम होती

है, यद्यपि सच्चाई का अनुभव अत्यन्त सुगमता पूर्वक हो सकता है, क्योकि सच्चाई का अभिलाषी उसका अनुभव करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र है। गहराई से देखो, विषय तथा विषयो के उपभोग करने के साधन ये दोनों किसी को भी स्वतन्त्रता पूर्वक नही मिलते, क्योकि विषयो का उपभोग बिना संगठन के नहीं हो सकता। परन्तु विषयो की रुचि का त्याग करने में तो स्वतन्त्रता है। विषयो की रुचि का त्याग करते ही कर्त्ता का मूल्य बढ जाता है। ऐसे भोक्ता को भोगो का चिन्तन नही होता, बल्कि भोग स्वय अपनी सार्थकता के लिये उसकी शरण में आते है। ऐसी प्रवृत्ति सिर्फ वर्त्तमान मे प्रतीतिमात्र है, क्योकि ऐसे भोक्ता को प्रवृत्ति-जन्य रस नही होता। रस के विना अवस्था में सद्भाव नही होता। अत. ऐसे भोक्ता की प्रवृत्ति केवल प्रतीतिमात्र है। यह नियम है कि प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त अपने आप होता है। प्रवृत्ति के अन्तकाल में पूर्ण निवृत्ति होकर स्वरूप-स्थिति स्वय हो जाती है। यद्यपि स्वरूप-स्थिति सच्चाई का अनुभव नही है, परन्तु अन्य सभी अवस्थाओ से श्रेष्ठ है। इस अवस्था के आने पर मल विक्षेप का अन्त हो जाता है। सभी अवस्थाओ का उत्थान होता है। जब सच्चाई का अभिलाषी उत्थान का दुख सहन नही करता तब स्वरूप की कृपा से पूर्ण सच्चाई का अनुभव हो जाता है, अर्थात् अवस्था-भेद मिट जाता है, अथवा यो कहो कि अपने से भिन्न कुछ भी शेप नही रहता।

(२) विचार मार्ग का अनुसरण वह कर सकता है जो सच्चाई का अनुभव वर्त्तमान मे ही करने का प्रयत्न करता है, अर्थात् जिसको सचाई के विना किसी प्रकार भी चैन नही

पडती। सच्चाई के बिना उसी को चैन पड़ती है जिसके जीवन मे किसी न किसी प्रकार का राग-द्वेष अवश्य है। पूर्ण राग-द्वेष मिटने पर सभी मानी हुई सत्ताओ का अन्त हो जाता है। मानी हुई सत्ताओ का अन्त होते ही पूर्ण सत्य का अनुभव होता है।

(३) विपय-जन्य स्वभाव मिटने पर गग-द्वेष का अन्त जीवन की सभी परिस्थितियो मे हो जाता है। किन्तु विपय-जन्य स्वभाव शेष रहने पर किसी भी परिस्थिति में राग-द्वेष का अन्त नही होता। अतः जिज्ञासु को परिस्थिति परिवर्तन करने की ओर विशेप ध्यान नही देना चाहिये,वल्कि पूरी शक्ति लगाकर विषय-जन्य स्वभाव मिटाने का घोर प्रयत्न करना चाहिये। जो अपनी पूरी शक्ति लगा देता है उसकी रक्षा ईश्वर, गुरु तथा सच्चाई स्वयं करती है, क्योकि जो सच्चाई के विना नही रह सकता उसके लिये सच्चाई स्वयं गुरु तथा ईश्वर के स्वरूप में प्रकट होती है, क्योकि सच्चाई, ईश्वर तथा गुरु सब स्वरूप से एक हैं, तीन नही। वही जिज्ञासु को गुरु के स्वरूप में, भक्त को ईश्वर के स्वरूप में और विचारशील को सत्य के स्वरूप मे अनुभव होता है। भक्त जिज्ञासु, विचारशील जव अपने को खो देते हैं तव अन्त में सव एक होते है, अर्थात् तत्त्व-ज्ञान में किसी प्रकार का भेद नही रहता।

तत्त्व-ज्ञानपूर्वक निष्ठा होने पर शक्ति और शान्ति दोनों निरन्तर सेवा करती हैं।

---

१२ अप्रेल १९४१

(१) अच्छाई के अभिलाषी को अच्छा होने के लिये शरीरादि सभी वस्तुओं से ऊपर उठना होगा।

(२) शरीर-भाव मिटाने के लिये निरन्तर आत्म-भाव करना होगा।

(३) नवीन जीवन का भाव धारण कर मानी हुई कल्पनाओं का त्याग करना होगा।

(४) भूतकाल का सद्भाव मिटाकर वर्त्तमान में ही असगतापूर्वक अपने में ही अपने परम प्रेमास्पद का अनुभव करना होगा।

(५) जिसमें स्वाभाविक प्रीति है, उसमें ही अपने माने हुए अहभाव को विलीन करना होगा।

---

१४ अप्रेल १९४१

दीर्घकाल के अभ्यास के कारण जब अस्वाभाविक भाव में स्वाभाविक भाव धारण हो जाता है, तब किसी न किसी कल्पना में अहं फँस जाता है। उसी कल्पना के अनुसार जीवन होने पर उस माने हुए अहभाव की सद्भावपूर्वक प्रतिष्ठा हो जाती है। यह नियम है कि कल्पना के अनुसार पूर्ण होने पर कल्पित अहभाव से वैराग्य हो जाता है, अर्थात् कल्पनातीत की रुचि उत्पन्न होती है। प्यारे, रुचि के स्थायी होने पर रुचि प्रेम-पात्र से स्वयं अपने अनुकूल सामग्री ले लेती है। प्रेम-पात्र परमदयालु तथा समर्थ हैं। वह अपने को भी दे देते है।

---

२२ अप्रैल १९४१

(१) जिन दोषो को मिटाना है उनका सद्भाव मिटा दो।

(२) वर्त्तमान परिस्थिति को सँभालने का ही प्रयत्न करो, क्योकि वर्त्तमान के सँभल जाने से विगडा हुआ भूत तथा भविष्य अपने आप सँभल जाता है।

(३) जिस प्रकार सूखी मिट्टी अपने आप झड जाती है उसी प्रकार क्रिया-शक्ति का अन्त होने पर शरीर-भाव अपने आप गल जाता है।

(४) करने का अभिमान सच्चाई से मिलने नही देता।

(५) 'भोग का रस' करने का अभिमान मिटने नही देता।

(६) योग की तीव्र अभिलाषा होने पर भोग का रस मिट जाता है और जब केवल योग की अभिलाषा शेष रहती है, तब प्रेम-पात्र की कृपा से योग स्वय हो जाता है और फिर कभी वियोग नही होता।

(७) भोग से अरुचि प्रत्येक भोगी को होती है, किन्तु जो भोगी उस अरुचि को स्थायी नही कर पाता, उसकी ही प्रवृत्ति भोगो मे अनेक वार होती है। प्यारे, प्रत्येक प्रवृत्ति स्वाभाविक कुछ काल के लिये निवृत्ति मे विलीन होती है। जिनको उस निवृत्ति-काल के रस का अनुभव हो जाता है, वे विचारशील प्रवृत्ति का अन्त करने के लिये प्रयत्न करते हैं। यद्यपि भोग मे जो रस है, वह भी निवृत्ति का ही है, परन्तु साधारण व्यक्ति उसे भोग का रस मान लेते हैं। प्यारे, योग की प्राप्ति के लिये भोग की अभिलाषा तथा प्रवृत्ति नही रहती, अर्थात्

निवृत्ति होती है। उस क्षणिक-निवृत्ति के रस को योग का रस मान लेते हैं।

---

२७ मई १९४१

अस्वाभाविक में जो स्वाभाविक भाव हो गया है, विचार-शील ने उसी का नाम माना हुआ अहं रक्खा है। उस माने हुए अहं का जन्म केवल श्रवणमात्र से तथा प्राकृतिक क्रिया करने की आदत से हुआ है। प्राकृतिक क्रिया करने की जो आदत है, वह भी नित्य नही, क्योकि अक्रिय-अवस्था प्रत्येक क्रिया की होती है, जिस प्रकार बोलने पर न बोलना होता है,क्योकि यदि न बोलना न हो, तो फिर बोलने की शक्ति नही आ सकती। इस युक्ति से यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि करने का आदत भी नित्य नही है। जो नित्य नही है, उससे अहं का जातीय सम्बन्ध नहीं हो सकता। जब क्रिया से तथा मानी हुई कल्पना से, जो श्रवण से उत्पन्न हुई है, जातीय-सम्बन्ध नही है, तो फिर उसे माने हुए सम्बन्ध के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं? प्यारे, जातीय-सम्बन्ध का प्रमाद हो सकता है, अभाव नही और माने हुए सम्बन्ध की प्रतीति हो सकती है, स्वरूप नही। इसी कारण माने हुए अहं का प्रतीतिमात्र के सिवाय स्वरूप कुछ नही है।

यदि उस माने हुए अहं के स्वरूप पर विचार किया जाय तो यही मालूम होता है कि वास्तविक अहं का जो स्वरूप है, माने हुए अहं की वही रुचि अर्थात् अभिलाषा है। प्यारे, अभिलाषा के स्वरूप मे 'पूर्ण' ही 'अपूर्ण' प्रतीत होता है, अथवा यो कहो वही कभी तो पूर्ण की अभिलाषा है और कभी पूर्ण है,

जैसे किसी का मित्र कभी याद के स्वरूप मे आता है और कभी मिलन के स्वरूप में। गहराई से देखो, अभिलाषा से भिन्न अभिलाषी का स्वरूप कुछ नही, क्योकि अभिलाषा के पूर्ण होने पर अभिलाषी की सत्ता शेप नही रहती, किन्तु अभिलाषा से एकता हो जाती है, अर्थात् अभिलाषी स्वय अभिलाषा को अपने स्वरूप में अनुभव करता है, जिस प्रकार एम० ए० का अभिलापी एम० ए० होने पर 'मैं एम० ए० हो गया' ऐसा अनुभव करता है, अर्थात् प्रेमी प्रीतम को अपने से भिन्न नही पाता। प्यारे, प्रीतम जब रुचि के स्वरूप में होता है, तब प्रेमी कहलाता है। रुचि के पूर्ण होने पर प्रेमी 'प्रीतम' हो जाता है। प्रेमी और प्रीतम के समान ही 'अपूर्ण' तथा 'पूर्ण' को समझो।

आप जिसे अल्पज्ञ कहते हैं, वह तो सर्वज्ञ की ही रुचि है। सर्वज्ञ अल्पज्ञ कैसे हो गया ? यह प्रश्न ही नही बनता, क्योकि अल्पज्ञ ने सर्वज्ञ की बिना जाने सत्ता कैसे स्वीकार कर ली ? जानना विना अभेद हुए होता नही। अभेद-रहित होने पर तो केवल मानना होता है। मानना यथार्थ-ज्ञान होता नही यह सभी जानते हैं। इस युक्ति से यह सिद्ध हो जाता है कि यह प्रश्न सर्वदा गलत है कि सर्वज्ञ कैसे अल्पज्ञ हो गया। जिज्ञासु बेचारा कभी भी बिना जाने स्वीकार नही करता। सर्वज्ञ अल्पज्ञ कैसे हो गया ? यह प्रश्न जिज्ञासु का नही हो सकता। यह प्रश्न सस्ते छापेखाने ने उत्पन्न कर दिया है। जिज्ञासु का प्रश्न तो केवल यही हो सकता है कि वास्तविक रुचि की पूर्ति किस प्रकार हो सकती है, अथवा यो कहो कि मेरी अपूर्णता मिटकर पूर्णता का अनुभव कब होगा ?

प्यारे, जितना ऊँचा प्रश्न हो, उतनी ही ऊँची दृष्टि से देखना
चाहिये। उसके लिये उतनी ही ऊँची योग्यता सम्पादन करना
चाहिये। जब पूर्ण की अभिलाषा ही अपूर्णता है तो फिर विचार
यह करो कि अभिलाषा उत्पन्न ही कब होती है? अभिलाषा
उत्पन्न होने के दो कारण दिखाई देते हैं। क्योकि सभी
अभिलाषाए केवल दो विभागो में ही बँट जाती है, किन्तु एक
काल में प्रबलतापूर्वक एक ही अभिलाषा होती है। गहराई से
देखो, विषयो की इच्छा होने पर विषयों से भिन्न और कोई
सत्ता प्रतीत ही नही होती, तो फिर उसे स्वीकार ही क्यो किया
जाय? ऐसा कहना उचित है, किन्तु विचार यह करना है कि
क्या कभी विषयों से पूर्ति का अनुभव होता है? जब पूर्ति का
अनुभव नही होता, तब पूर्ति की अभिलाषा विषयो से परे सत्ता
को स्वीकार करने के लिये बाध्य करती है।

प्यारे, विषयो की इच्छा होने पर ही तो विषयो की सत्ता
मानते हो। इसी दृष्टि से पूर्ति की अभिलाषा होने पर पूर्ण की
सत्ता मान लो। पूर्ण की सत्ता मानने का अर्थ यह नही है कि
मानकर ही सन्तोष कर लो, बल्कि मानकर जान लो।

विषयों की इच्छा की तो पूर्ति होती ही नही, क्योकि
विपय तथा विषय की इच्छा स्वरूप से कुछ नही है, केवल
प्रतीतिमात्र हैं। विषयो की प्रवृत्ति में जो क्षणिक-पूर्तिसी प्रतीति
होती है वह तो केवल प्रवृत्ति न होने की शक्ति-हीनता के
अतिरिक्त कुछ नही है। देखो, अनेक बार देखा-सुना, पर
फिर भी देखने तथा सुनने आदि की रुचि शेप है, यद्यपि
सुनते-सुनते कान तथा देखते-देखते आँख बन्द हो जाती है,

परन्तु फिर भी देखने आदि की रुचि शेप रहती है। इससे यही सिद्ध होता है कि विषयो की प्रवृत्ति मे शक्तिहोनता होती है, पूर्ति नही। इसी कारण विचारशील विपयो की इच्छा का त्याग करते हैं। पूर्णता की अभिलापा पूर्ण होने पर हो मिट सकती है। पूर्ण होने से पूर्व पूर्णता की अभिलापा का त्याग नही हो सकता है, वह तो पूर्ण होती है, क्योकि पूर्ण की सत्ता है। विषयो की सत्ता नही है, क्योकि विपयो की इच्छा पूर्ण नही होती। शक्ति-हीनता को पूर्णता मान लेना केवल विपयो का राग है।

'शरीर मेरा है' यह आवाज स्वाभाविक है। इस स्वाभा-विक आवाज को मिटाकर जव हम यह धारणा कर लेते है कि 'मैं शरीर हूँ', तब विषयो से मानी हुई एकता हो जाती है। यह नियम है कि अभेद-भाव की एकता होने पर 'करना' शेप नही रहता, वल्कि एकता के अनुसार प्रतीति तथा स्थिति होती है। इसी कारण 'मैं शरीर हूँ' यह मानी हुई एकता की स्थिति स्वा-भाविक हो गई है, जिसका जन्म केवल प्रमाद अर्थात् भूल के आधार पर है। इस भूल को मिटाने के लिए 'यह शरीर मैं नही' यह आवाज काफी है। जव यह भाव कि 'मैं शरीर नही' जीवन का स्वरूप हो जाता है, तब सद्भावपूर्वक यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'मैं क्या हूँ।' यह प्रश्न सभी प्रश्नो को खाकर हा उत्पन्न होता है। इस प्रश्न की तीव्र जिज्ञासा होना ही आस्तिकता का उदय है। इस जिज्ञासा के पर्व तो आस्तिकता केवल कल्पनामात्र है।

स्वाभाविक शरीर-भाव है प्रवृत्ति उसी समय तक जीवित रहती है जव तक कि क्रिया के जगत से भाव के जगत् मे

प्रवेश नही होता। भाव के जगत् में प्रवृत्ति तब तक रहती है जब तक ज्ञान के जगत् में प्रवेश नही होता।

स्वाभाविक इन्द्रियों के विषयो में प्रवृत्ति होना 'क्रिया का जगत्' है। वर्णाश्रम आदि भावनाओ के अनुसार नियम-बद्ध प्रवृत्त होना 'भाव का जगत्' है। 'मैं क्या हूँ' इस भाव के जागृत होने पर इसकी पूर्ति होना ही 'ज्ञान का जगत्' है। क्रिया के जगत् में आसक्ति होने के कारण शरीर-भाव अनन्त-काल से जीवित है। शरीर-भाव मिटने पर क्रिया की आसक्ति मिट जाती है और क्रिया की आसक्ति मिटने पर शरीर-भाव से ऊपर उठने की रुचि उत्पन्न होती है।

वास्तविक अह का स्वरूप वास्तविक रुचि से भिन्न कुछ नही है। माने हुए अह के दो स्वरूप हैं—(१) विषयी अहं (२) जिज्ञासु अह।

अहं जिससे मिला दिया जाता है, उसी को सत्ता देता है, उसी को प्रकाशित करता है, उसी मे प्रियता दे देता है। सत्ता का अर्थ सत् है, प्रकाशित का अर्थ चैतन्य है और प्रियता का अर्थ आनन्द है। अहं का वास्तविक स्वरूप सत्, चित्, आनन्द से भिन्न कुछ नही।

---

१२ जून १९४१

(१) जो रोग औषधि से ठीक नही होता, उसका कारण अदृश्य की मलिनता होती है। अदृश्य की मलिनता शुभ कर्म आदि से दूर होती है, औषधि से नहीं। रोग-निवृत्ति का एक सर्वोत्तम उपाय यह भी है कि यदि रोगी रोगी भाव का

सद्भाव अपने मे से निकाल दे तो फिर रोग बेचारा निर्जीव हो जाता है, क्योकि 'मै' की सत्ता से सभी सत्ताएँ प्रकाशित होती हैं। यह उपाय सूक्ष्म बुद्धिवाले तथा वीतराग पुरुष कर सकते हैं, क्योकि विषय-विराग बिना, शरीर-भाव त्याग करने की शक्ति जागृत नही होती। शरीर-भाव मिटने पर रोगी-भाव मिटना सुलभ हो जाता है। जो वस्तु जिस काल में जैसी प्रतीत हो, उसको उसी काल में उसी प्रकार का मानना, मानी हुई सत्ता मे सद्भाव कराने के सिवाय और कुछ अर्थ नही रखता। सद्भाव से प्रतीति में सत्यता आ जाती है, जो दुःख का मूल है।

(२) जब तक अपनी पूर्ति न हो, तब तक जो कुछ मालूम होना हो, उससे अपने को ऊपर उठाते रहना चाहिये, जिससे पूर्ति हो जाय और जिसका त्याग न कर सके, उसमें ही अपने आपको विलीन कर अचिन्त हो, परमानन्द का अनुभव करना चाहिये। आनन्द की अभिलाषा अपने सिवाय और सभी इच्छाओ को खा जाती है। उसके सद्भावपूर्वक जागृत होने पर विपयो की प्रवृत्ति स्वाभाविक मिट जाती है। विषयो की निवृत्ति होते ही योग अपने आप हो जाता है। योग से अभिलापा-पूर्ति की शक्ति आ जाती है।

(३) जो मानव अपनी अनुभूति का अपने पर पूरा प्रभाव स्वीकार कर लेता है, वही मानव सत्य का अनुभव करने में समर्थ होता है। अतः अपनी अनुभूति का सदा आदर करना चाहिये। अपनी अनुभूति का निरादर करना परम भूल है। जैसी अनुभूति हो, वैसा ही जीवन हो, यही वास्तव में ईमानदारी है। इस ईमानदारी के विना विचार-मार्ग का

अनुसरण कर नहीं सकता, क्योकि अनुभूति के आधार पर ही विचार-मार्ग का आरम्भ होता है। जब अनुभूति के अनुसार जीवन हो जाता है, तब आवश्यक अनुभूति फिर बढ जाती है। यहाँ तक कि वह अनुभूति उस समय तक निरन्तर बढती रहती है, जब तक कि पूर्णता प्राप्त न हो जाय।

विपयासक्ति के कारण प्राणी अनुभूति का निरादर करता है। विषयासक्ति मिटने पर अनुभूति तथा जीवन दोनो का एक स्वरूप हो जाता है। अथवा यो कहो कि अनुभूति ही जीवन है, क्योंकि सभी क्रियाओं के अन्त मे अनुभूति ही शेष रहती है और प्रत्येक क्रिया की उत्पत्ति अनुभूति के ही आधार पर होती है। जिससे उत्पत्ति हो और जिसमे ही लय हो वही वास्तव में सर्वाधार है। प्यारे, अनुभव-सत्ता ही सभी मानी हुई सत्ताओं को प्रकाशित करती है। मानी हुई सत्ताओ को त्याग करने पर शुद्ध अनुभवसत्ता ही शेष रहती है, जो आनन्द का भण्डार है। जो प्राणी मानी हुई सत्ता को स्वीकार कर लेता है, उसकी ही करने में प्रवृत्ति होती है। जब करने से पूर्ति नही होती, तब जिज्ञासा जागृत होती है। तीव्र जिज्ञासा होने पर जिज्ञासा की पूर्ति के साधन जिज्ञासु में स्वय उत्पन्न हो जाते है। अतः जिज्ञासु अपनी पूर्ति में स्वय समर्थ है। पूर्ति न होने का कारण केवल जिज्ञासा की कमी है। जिस प्रकार जीवन पूर्ण होने पर मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार जिज्ञासा पूर्ण होने पर अनुभव हो जाता है।

१७ अगस्त १९४१

जो स्वय प्रकाश है, उसको किसी वाह्य तथा अन्तः इन्द्रियों से नही जाना जाता, ऐसा सभी मानते है। उसके लिये सिर्फ इतना ही सकेत किया जा सकता है कि सभी क्रियाओं का प्रकाशक स्वय प्रकाश है।

क्रियाएँ इच्छाओ के आधार पर जीवित है, इच्छाएँ अभिलापा के आधार पर। अभिलापा सिर्फ पूर्ण होने की है, अथवा यों कहो कि पूर्णता की अभिलाषा ही पर-प्रकाश्य की सत्ता का स्वरूप है। यह सत्ता ज्ञान दृष्टि से काल्पनिक और न्याय-दृष्टि से जड़ है। इस सत्ता से असग होने पर विवेक की पूर्णता और बोध का आरम्भ हो जाता है। इसी अवस्था में अभ्यास की कमी के कारण जो विवेकी सन्तुष्ट हो जाते हैं, वे कर्त्तापन के भाव से रहित अर्थात् क्रियाओ के साक्षी होकर निजानन्द का अनुभव करते है। ऐसा होने पर सभी क्रियाओ के प्रभावों से छूट जाता है। जिस प्रकार वृक्ष कट जाने पर भी कुछ काल तक हरा-हरा दीखता है, उसी प्रकार कर्त्तापन शेप न रहने पर भी क्रियाएँ प्रतीत होती रहती है। परन्तु जिसको निजानन्द से सभी इन्द्रियो के दरवाजे रोकना पसन्द है, उसको केवल साक्षी-भाव में सन्तुष्ट नही होना चाहिये। उसको तो भावातीत-स्वभाव में पर-प्रकाश्य सत्ता को जिसका कि वह साक्षी था, गला देना चाहिये। यह रस अनन्त तथा अपार है। ऐसे महापुरुप के दर्शन तथा स्पर्श मात्र से ही जीवन वदल जाता है।

आप छकी नैना छके, अधर रहे मुसकाय।
छकी दृष्टि जापर परे, रोम-रोम छकि जाय॥

२६ अगस्त १६४१

साधारणतया विपय-विराग का अर्थ विषयो मे दीनता का अभाव है, विषयो का स्वरूप से त्याग नही। ऐसे वैराग्य से अह-भाव का रूपान्तर होता है, वह गलत नही है। अथवा यो कहो कि ऐसे भोक्ता का मूल्य भोग से अधिक बढ जाता है। ऐसे भोक्ता का कभी अपमान नही होता, बल्कि वह सम्मान पाता है। विषय निवृत्ति होने पर इन्द्रियो के दरवाजे रुक जाते है। गहराई से देखो, बाह्य इन्द्रियो का ज्ञान अन्त: इन्द्रियो की अपेक्षा अज्ञान हो जाता है और अन्त.इन्द्रियो का ज्ञान अनुभव-ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान हो जाता है। ज्ञान के अनुसार निष्ठा और निष्ठा के अनुसार भाव तथा भाव के अनुसार प्रतीति होती है। जो प्रतीति भाव में और भाव ज्ञान मे विलीन नही होता, उस प्रतीति का प्रभाव विचारशील पर कुछ नही होता, अर्थात् वह निरर्थक होती है। विपय-निवृत्ति ज्ञान से होती है क्रिया से नही, क्योकि विपय की उत्पत्ति अज्ञान से हुई है, स्वरूप से नही। प्यारे, जो वस्तु स्वरूप से होती है उसका अभाव नही होता।

अस्वाभाविक अहंभाव समाधि तक जीवित रहता है। कर्मवादी विश्व-प्रेम के नाते कर्म करने पर स्थूल कर्मों की पराकाष्ठा करता है। वह जीवन स्थूल जगत् मे श्रेष्ठ माना जाता है। अन्य साधक अपने प्रम-पात्र के साथ दास्य, सख्य आदि भावो के अनुसार रमण करते हुए गोलोकादि लोकान्तर का अनुभव करते हैं। यह जीवन स्थूल जगत् से भले हीं श्रेष्ठ हो, किन्तु अस्वाभाविक अहभाव यहाँ भी जीवित रहता है, क्योकि सूक्ष्म शरीर के बिना कोई भी लोकान्तर में गमन नहीं

कर सकता और कारण-शरीर के बिना समाधि का रस नही ले सकता। अत. तीनो शरीरो से असग होने पर ही अस्वाभाविक अहभाव मिट सकता है। असगता कर्म नही, बल्कि प्रयत्न है। कर्म और प्रयत्न मे भेद है। प्यारे, कर्म के आधार पर कर्त्ता, क्रिया तथा सीमित फल जीवित है। कर्त्ता आदि के मिटने पर अनन्त-जीवन अर्थात् पूर्णता का अनुभव होता है। प्यारे, पूर्णता होने पर क्रिया तथा प्रक्रिया का प्रश्न शेष नही रहता। क्रिया का अन्त करने के लिए निष्क्रियता साधन है, जीवन का लक्ष्य नही।

अस्वाभाविक अहंभाव के अनुसार क्रिया करने पर उस परिस्थिति से अरुचि उत्पन्न होती है, अरुचि से जिज्ञासा तथा जिज्ञासा की पराकाष्ठा होने पर असगता होती है और असंगता से यथार्थबोध स्वयं हो जाता है।

अहंभाव के परिवर्तन से क्रियाओं का परिवर्तन और अहभाव के मिटने से क्रियाओ का अन्त होता है। क्रियाओं का निरोध होने पर अहभाव जीवित रहता है और अहभाव के मिटने पर कर्त्ता आदि शेष नही रहते। अनुभव बुद्धि-द्वारा कथन नही किया जा सकता, केवल सकेत किया जा सकता है। गीता आदि भी सकेत ही करती है।

प्रकाश ने अन्धकार को नही देखा और अन्धकार ने प्रकाश को नही देखा। अस्वाभाविक जीवन मे स्वाभाविक जीवन की कल्पना वच्चों के बहकाने के सिवाय और कुछ अर्थ नही रखतो। अस्वाभाविक जीवन अपूर्ण है। अपूर्णता में पूर्णता की अभिलाषा स्वाभाविक होती है। अथवा यो कहो कि अस्वाभाविक जीवन स्वाभाविक जीवन की अभिलापा का

नाम है। इसके सिवाय अस्वाभाविक-जीवन का स्वरूप कुछ नही। प्यारे, जो स्वाभाविक है वही जीवन है, अस्वाभाविकता उस जीवन की अभिलाषा है। यह सभी जानते है कि अभिलाषा से भिन्न, अभिलाषी का स्वरूप कुछ नही होता और अभिलाषा पूर्ण होने पर अभिलाषी शेष नही रहता। शेष वही रहता है कि जिसकी अभिलापा थी। स्वाभाविक जीवन का स्वरूप वही है जो अभिलापा है। अभिलापा एक है, अनेक नही और जिसकी अभिलापा है, वह भी एक है, अनेक नही। इस दृष्टि से एक और एक मिलकर एक हो जाते हैं तथा जिज्ञासु अनेक को एक में और एक को अनेक में अनुभव कर, अनेक और एक की कल्पनाओ का अन्त करके कृतकृत्य हो जाता है' अर्थात् कल्पनातीत का अनुभव कल्पनाओ का अन्त होने पर ही हो सकता है।

सन्त-वाणी

(१) राम मे तन्मय रहो अथवा राम के नाते से सेवा में तन्मय रहो।

(२) ससार मे बडा वही है जो संसार के अधीन न हो।

(३) अकेले मे मिलना चाहो तो शरीर का भी सग छोड़ के द्रौपदी की भाँति अपनी साड़ी पकड़ो मत, तब कृपा होगी।

गुरु के 'गुरु' को जीवन का स्वरूप वना लेना ही गुरु-भक्ति है, अथवा गुरु से अभिन्न हो जाना ही गुरु-भक्ति है, या गुरु की आज्ञा-पालन ही गुरु-भक्ति है। गुरु का 'गुरु' ही प्रेम-पात्र

से मिलाने मे समर्थ है, शरीर नही। उपासना 'गुर' की होती है, शरीर की नही। उसका सद्भाव करना गुरु-भक्ति है। गुरु का 'गुर' ही वास्तव में गुरु का स्वरूप है।

सन्त-वाणी

गुरु के दिलाये हुए विश्वास को स्वीकृत कर लेना ही गुरु-भक्ति है। विश्वास श्रवण के आधार पर होता है और स्वीकृति निज-अनुभव से होती है। अतः सद्गुरु द्वारा सुना हुआ भाव जब तक निज-अनुभव न हो जाय, तब तक व्याकुलतापूर्वक घोर प्रयत्न करते रहो। वह प्रयत्न ही सद्गुरु की सेवा है, क्योकि सेवा के बिना भक्ति पूर्ण नही होती।

---

१० सितम्बर १९४१

··· भक्त अधम नही होते और अधम भक्त नही होते, क्योकि भक्त का स्वरूप विरह तथा मिलन के अतिरिक्त कुछ नही होता····।

मिलन की अभिलाषा विषय-इच्छा को खा लेती है। विषय इच्छा निवृत्त होने पर करने की रुचि शेष नही रहती। अहं के बदलने पर क्रियायें बदल जाती है और मिटने पर मिट जाती है। मेरा भक्त परम पवित्र है, अधम नही। अहं तथा मन की सभी लीलाओ को मेरे निज स्वरूप से ही सत्ता मिलती है, जो भक्त मेरे को अपने मे ही अनुभव करते हैं उनका मन तथा अहं मेरे निजानन्द से ही छक जाते है। छका हुआ मन स्वयं अविषय हो

जाता है, अविषय होते ही मन की सत्ता स्वय कुछ नही रह जाती। जब देश काल आदि की दूरी है ही नही तो फिर दर्वाजा बन्द कैसा ? दूरी का भाव निकाल दो। अह मे मेरे को देखो। मन को अह बड़ा प्यारा है । जब अहं को मेरे मे देखोगे, तब मन मेरा हो जायगा। मन अहं का मित्र है, शत्रु नही क्योकि अहं से ही मन को जीवन मिलता है। भला कोई भी जीवन-दाता से शत्रुता कर सकता है ? कदापि नही। अहं अपनी रक्षा के लिये मन का बहाना बतलाता है।

व्याकुलता से बचने के लिये करने की सूझती है। व्यर्थ चेष्टाओ का निरोध होने पर अभेदभाव के भक्तो को आनन्द और भेदभाव के भक्तो को व्याकुलता स्वय आ जानी चाहिये। व्याकुलता से बचो मत, बल्कि बढ़ाओ। सूक्ष्मरूप से जो भेद का भाव जीवित है, उसके मिटाने में व्याकुलता ही समर्थ है। उपाय यही है कि चिन्ता छोड दो। जो कर सकते हो करो। जो नही कर सकते, वह अपने आप होगा। यदि चिन्ता आती है, तो समझ लो कि अभी वह नही किया, जो करना चाहिये। क्रिया का रस मत लो, ऐसा करने से आवश्यक क्रियाएँ अपने आप हो जायेगी और व्यर्थ-चेष्टाओ का निरोध भी हो जायेगा। क्रिया का रस व्यर्थ-चेष्टाओ का निरोध नही होने देता। उस रस को व्याकुलता जलायेगी।

अपनी परम पवित्रता पर पूरा विश्वास करो। भक्त प्रतीक्षा नही करते, बल्कि भगवान् भक्त की प्रतीक्षा करते है।

---

२ अक्टूबर १९४१

एक ही मे अनेक का अन्त करना एकान्त है, अकर्त्तव्य के त्याग से तो केवल वुद्धि आदि सम हो जाते है, वुद्धि आदि का सम होना कर्त्तव्य है, क्योकि सभी प्रकार की शक्तियों का सचय निर्विपय होने पर ही होता है। विपय-प्रवृत्ति अस्वाभाविक जीवन है, जो आसक्ति के कारण स्वाभाविक सा हो गया है। उसका शेप न रहना कर्त्तव्य-पालन है। कर्त्तव्य-पालन साधन है, साध्य नही। रोग यही है कि 'मैं रोगी हूँ।' औषधि यही है कि 'मैं सर्वदा आरोग्य हूँ।' क्योकि आरोग्यता से जातीय एकता है। प्यारे, जातीय एकता का अभाव नही होता, प्रमाद होता है। इसी कारण आरोग्यता के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता है। यदि एक वार भी अपनी पूरी शक्ति से यह आवाज लगा दो कि 'मैं आरोग्य हूँ' तो रोग भाग जायेगा ।

अपने जातीय स्वरूप का आदर करो। जो निज-स्वरूप का आदर करता है वह गुरु, ईश्वर तथा संसार आदि को अपने ही में पाता है, क्योकि इन सवका अधिष्ठान तो एक ही है। आदर करने वाले का निरादर कोई नही कर सकता और निरादर करने वाले का आदर कोई नही करता। यदि गहराई से देखो, तो यह अनुभव होगा कि सवसे अधिक प्रियता अपने मे है।

जो नही कर सकते, उसे करने के लिये कोई नही कहता, और न किसी को उसे करने की चिन्ता होती है। किसी प्रकार की भी चिन्ता का जीवित रहना यह सिद्ध करता है कि जो कर सकते हैं, वह नही करते । चिन्ता नास्तिक को

होती है, आस्तिक को नही, क्योकि जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार एक स्थान मे नही रह पाते, उसी प्रकार आस्तिकता और चिन्ता एक स्थान मे नही रहने पाते। सर्वदा अभय रहो।

१२ अक्टूबर १९४१

अपने में निर्दोषता का भाव स्थापित करने पर सभी दोष स्वय मिट जाते है। दोषों का सद्भाव दोषो को निमन्त्रण देकर बुलाने के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता। विषयी ससार को, भक्त भगवत् तत्त्व को और जिज्ञासु यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करता है। अहभाव का परिवर्तन होने पर क्रिया तथा भाव का परिवर्तन स्वय हो जाता है और अहभाव के मिटने पर सब कुछ मिल जाता है। भविष्य की आशा वर्तमान मे सफल नही होने देती, क्योकि आशा के आधार से व्याकुलता दब जाती है। अनुभव उसका ही करना है, जो वर्तमान मे मिल सकता है। भोग के लिये भविष्य की आशा आवश्यक है, क्योंकि वह कर्म से प्राप्त होता है। प्रेम-पात्र के लिये भविष्य की आशा आवश्यक नही, क्योकि वह त्याग से प्राप्त होता है। अपना मूल्य बढाओ। जो आपका है, वह आपके बिना नही रह सकता। अतः कृपा में सदेह करना परम भूल है। शरणागति-भाव भक्तियोग का अन्तिम साधन है, जो सिर्फ जीवन मे एक बार आता है। उसके आते ही भक्त भगवान् से अभिन्न हो जाता है और फिर कुछ भी करना शेष नही रहता।

२५ अक्टूबर १९४१

जिस अभिलाषी को अपनी अभिलाषा पर सद्भावपूर्वक दृढ़ता होती है, उसकी वह अभिलाषा स्वय पूर्ण होती है।

प्रेमी प्रथम अपने स्वभाव के अनुसार प्रेम-पात्र से सम्बन्ध करता है, इस अवस्था के आ जाने पर अपनी सीमित वस्तुओ का सदुपयोग करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। परन्तु प्रेम-पात्र की प्रसन्नता तो तब होती है, जब प्रेमी अपने स्वभाव को मिटाकर प्रेम-पात्र से अभिन्न होता है। प्रेम-पात्र के स्वभाव का अनुकरण करते ही प्रेमी सभी चेष्टाओ से मुक्त हो जाता है, बल्कि यों कहो कि प्रेम-पात्र प्रेमी और प्रेमी प्रेम-पात्र हो जाता है।

किसी को बुलाओ मत, क्योकि जो आपका है, वह आपके बिना रह नही सकता, अर्थात् अपने प्रेम-पात्र को निरन्तर अपने में ही अनुभव करो। अतः इन्द्रिय आदि को निजानन्द से भर दो। अपने सिवाय अपने लिये अपने से भिन्न की आवश्यकता नही है,ऐसी धारणा होने पर हृदय आनन्द से स्वयं छक जायेगा, अर्थात् स्थान खाली होने पर आनन्द स्वयं आ जायेगा। जो आकर नही जाता वही आनन्द है।

जो जा रहा है उसको मत रोको, क्योकि उससे जातीय भिन्नता है। गहराई से देखो, शरीर आदि सभी वस्तुएँ निरन्तर जा रही है। जाने वाली वस्तुओ से विमुख हो जाना ही स्वाभाविक नित्य-जीवन की ओर जाना है। जाने वाली वस्तुओ को रोकने का प्रयत्न करना ही अस्वा-

भाविकता को जीवित रखने का उपाय, अर्थात् माने हुए अह की रक्षा करना है, जो विचारशील को नही करना चाहिये।

जो स्वय आया है, उसे हटाओ मत, बल्कि उसको पूरा स्थान दो, क्योंकि वह कुछ सिखाने के लिये आया है। गहराई से देखो, जीवन की प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग करने पर वह परिस्थिति उन्नति का साधन हो जाती है। अतः आई हुई परिस्थिति का स्वागत करते हुए उसका सदुपयोग करने का प्रयत्न करो। यह भली प्रकार समझ लो कि आने वाली सभी वस्तुएँ स्वयं चली जाती हैं। उनके हटाने का प्रयत्न शक्ति को क्षीण करने के सिवाय कुछ अर्थ नही रखता। अपने मे अविचल भाव से रहने का स्वभाव बनाओ, आने-जाने वाले की ओर लेश-मात्र भी न देखो।

व्यक्तिभाव से किसी के गुण तथा दोष मत देखो, क्योंकि ऐसा करने में अपने में व्यक्ति-भाव आ जाता है, जो परम भूल है। अपने में से व्यक्ति-भाव निकाल देने पर विश्व से एकता अनुभव होती है।

सर्वथा अचिन्त तथा अभय रहो। सभी चिन्ताओ को विचार की अग्नि में जला दो। स्वधर्म-निष्ठा निरन्तर बढ़ती रहनी चाहिये। अपनी समर्थता तथा परम पवित्रता पर सर्वदा विश्वास करो। दीनता तथा दुर्बलता का अन्त कर दो। राग-द्वेष का नितान्त अन्त होने पर व्यक्ति-भाव मिट जाता है। त्याग तथा प्रेम के आ जाने पर मानी हुई सत्ता से असगता तथा जातीय सत्ता से अभिन्नता हो जाती है।

२ फरवरी १९४२

आपके लिये यदि 'नित्य जीवन' कल्पनामात्र है, तो फिर वर्त्तमान जीवन का स्वरूप क्या है ? गहराई से देखो, अनित्य-जीवन अर्थात् वर्त्तमान जीवन 'नित्य जीवन' की अभिलाषा से भिन्न और क्या हो सकता है ? अर्थात् कुछ नही। वर्त्तमान जीवन, नित्य जीवन की अभिलाषा है। अभिलाषा जीवित इस-लिये हैं क्योकि पूर्ण नही हुई। पूर्ण इसलिये नही हो पाती, क्योकि क्रिया तथा भाव की खुराक मिल जाती है। अथवा यो कहो कि अनित्य ज़ीवन की खुराक क्रिया तथा भाव का रस है। परम-प्रेम अपने मे हो सकता है, भिन्न में नही। अत प्रेम को अपनाओ। प्रेम क्रिया तथा भाव से परे है। क्रिया तथा भाव से कुछ माँगना होता है, और प्रेम मे देना होता है। माँगने की आदत लोभी को होती है, प्रेमी को नहीं, इसी कारण लोभी वेचारा प्रेम का रस चख नही पाता। देना सीखो। यदि दे दिया तो वोझ कैसा कमी कैसी ? अपनी कमी का वोझ अपने ऊपर रख लेना अपने भाव को दुर्वल करना है। भाव तथा क्रिया अनेक बार इसलिये आते हैं, क्योकि पूर्ण नही हो पाते। अतः भाव के पूर्ण होने पर भाव मिट जायेगा। भक्त की कमी भक्त की नही होती, वल्कि उसकी होती है जिसका भक्त है। जिसमें कमी हो, उसका भक्त होना नही चाहिये। फिर न मालूम भक्त को अपने मे कमी कहाँ से दिखाई देती है। पूर्ण से विभक्त होने पर कमी का अनुभव होता है। भक्त होने पर विभक्त हो नही पाता। अत. भक्त में कमी शेष नही रहती, यह निर्विवाद सिद्ध है।

कमी किसी गुण के आधार पर जीवित है, क्योकि कमी

वेचारी इतनी निर्बल है कि अकेली रह नही पाती। जो प्राणी अपनी कमी को देख लेता है, उससे कमी निकल जाती है। प्यारे कमी चोर के समान है उसे किसी ने देख नही पाया, क्योंकि वह देखते ही भग जाती है। सभी प्राणी यह जानते हैं कि सूर्य ने अन्धकार देखा नहीं, किन्तु कथन यह करते है कि सूर्य ने अन्धकार मिटा दिया। प्यारे,क्या सूर्य में कभी अन्धकार था ? अर्थात् नहीं था। किसी गुण की आसक्ति है, जिसके आधार पर कमी का कथन होता है।

वियोग जीवन की आवश्यक वस्तु है, अथवा यो कहो कि प्रेम-पात्र का अन्तिम सदेश है।

---

१० फरवरी १९४२

अनेक क्रियाओं तथा भावो को एक ही अर्थ में विलीन कर दो, अर्थात् कुल जीवन एक निष्ठा हो जाय। प्रथम विचारपूर्वक शान्त चित्त से यह भली प्रकार समझ लो कि विषय-प्रवृत्ति पूर्ति का साधन नही, अथवा यों कहो कि ससार से पूर्ति की आशा करना परम भूल है, क्योकि विषय-प्रवृत्ति से भिन्न ससार कुछ नहीं।

प्यारे, स्वाभाविक अभिलाषा की पूर्ति के लिये स्वाभाविक जीवन को अपना लेना आवश्यक है। गहराई से देखो, निवृत्ति के समान जीवन मे और कुछ स्वाभाविक नही दिखाई देता, क्योंकि अनेक प्रयत्न करने पर भी प्रत्येक प्रवृत्ति स्वय निवृत्ति मे वदल जाती है, ऐसा प्राय सभी प्राणियों का अनुभव है। परन्तु निज अनुभव का आदर न करने के कारण वेचारे प्राणी मार्ग की खोज मे भटकते रहते हैं। प्रेम-पात्र के नित्य रस तक

पहुँचाने के लिये एकमात्र निवृत्ति ही परम साधन है। प्रवृत्ति का सूक्ष्म स्वरूप क्या है ? करने का भाव। अथवा यो कहो कि करने के आधार पर स्थायी प्रसन्नता के लिये भविष्य की आशा। गहराई से देखो, यदि भविष्य की आशा न हो, तो किसी प्रकार की प्रवृत्ति जीवित नही रह सकती। भविष्य की आशा प्रत्येक प्रवृत्ति का मूल कारण है। भविष्य की अभागी आशा पूर्ण व्याकुलता होने नही देती। अतः भविष्य की आशा निकाल दीजिये, व्याकुलता अपने आप आ जायेगी। व्याकुलता प्रत्येक प्रवृत्ति के मिटाने में सर्वदा समर्थ है।

व्याकुलता बढ़ जाने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी निर्जीव मशीन की भाँति हो जाते है, अर्थात् इन सबकी क्रियाओं का प्रभाव कुछ नही रहता।

यह समझने पर भी कि प्रवृत्ति पूर्ति का साधन नही है, प्रवृत्ति बनी ही रहती है, उससे किस प्रकार छुटकारा मिले ? उस छुटकारे के लिये ही धर्म के प्रथम अंग का अनुसरण करना है। धर्म का प्रथम अग क्या है ? 'मैं सबका हूँ' अर्थात् 'जिसने मुझे जो माना है, मैं उसके लिये वही हूँ' ऐसा मानकर माने हुए के अनुसार जो कर सकते हो कर देना चाहिये।

करते समय कर्त्ता को बचाना नही चाहिये, किन्तु क्रिया का अन्त होने पर उससे सम्बन्ध भी नही रखना चाहिये। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में पूर्ण-त्याग का अनुभव होगा। प्रवृत्ति-काल मे हृदय पूर्ण प्यार से लहराता रहेगा, जो व्यवहार में प्रेम के नाम से कहा जाता है। वास्तव में तो प्रेम ज्ञान का दूसरा नाम है, अत. जीवन का स्वरूप त्याग तथा

प्रेम हो जायेगा। इस भाव को इतना बढ़ाओ कि प्रत्येक प्रवृत्ति मे पूर्ण रस आवे, अर्थात् सभी छोटी-बड़ी प्रवृत्तियो का एक अर्थ हो जाय और निवृत्ति में भी प्रवृत्ति के समान ही रस बना र। ऐसा करने से प्रवृत्ति निवृत्ति का भेद मिट जायेगा। प्रवृत्ति निवृत्ति का भेद मिटते ही अपने से भिन्न की प्रतीति न होगी अर्थात् मानी हुई सत्ता की स्वीकृति मिट जायेगी।

साधारण प्राणी प्रवृत्ति-काल मे निवृत्ति का चिन्तन और निवृत्ति-काल में प्रवृत्ति का चिन्तन करते रहते हैं। वास्तव में चिन्तन नही करना चाहिये, बल्कि प्रवृत्ति-काल मे पूर्ण प्रवृत्ति और निवृत्ति-काल में पूर्ण-निवृत्ति होनी चाहिये और उन दोनो का अर्थ भी समान होना चाहिये। किसी का भी चिन्तन करना विचारशील को शोभा नही देता, क्योकि चिन्तन व्यर्थ-चेष्टा है। चिन्तन करने की व्यर्थ-चेष्टा उसी समय तक जीवित रहती हैं, जब तक हृदय तथा दिमाग में भिन्नता होती है।

धर्म का दूसरा अग माने हुए को निकाल देना है। प्रथम अंग का पालन करने पर विश्व से एकता और दूसरे अग का पालन करने पर सत्य का अनुभव हो जाता है। प्रथम अंग का पालन करने पर हृदय निर्वैरता से भर जाता है और दूसरे अग का पालन करने पर विश्व की सत्ता अपने में ही विलीन हो जाती है, अर्थात् अपने से भिन्न शेष नही रहता।

---

८ अप्रेल १९४२

संयोग की अपेक्षा वियोग सबल तथा स्वतन्त्र है, अतः उसको अपनाइये जो प्राणी सयोग मे ही पूर्ण वियोग का अनुभव कर लेते है और वियोग होने पर सत्ता स्वीकार नही

करते, वे वर्तमान में ही तत्त्व-साक्षात्कार कर कृतकृत्य हो जाते हैं। सयोग मे वियोग अनुभव करने से तत्त्व-साक्षात्कार हो जाता है और वियोग होने वाली वस्तुओ की सत्ता स्वीकार न करने से तत्त्व-निष्ठा हो जाती है। तत्त्व-साक्षात्कार होने पर शान्ति और तत्त्व-निष्ठा होने पर शक्ति अपने आप आ जाती है।

सयोग में वियोग अनुभव करने की दो अवस्थाएँ हैं। प्रथम अवस्था यह है कि सयोग-काल मे भी ऐसा भाव उदय हो, कि यह सब कुछ मिट रहा है। इस भाव के उदय होने पर पवित्र व्याकुलता आ जाती है, जो सयोग से पूर्ण वियोग कर नित्य-योग कर देती है। पहली अवस्था मे बुद्धि का व्यापार जीवित रहता है और दूसरी अवस्था मे बुद्धि आदि से असगता होती है, अथवा यो कहो कि बुद्धि का सदुपयोग होने से बुद्धि छूट जाती है।

प्यारे, प्रवृत्ति वही जीवित है जो पवित्रतापूर्वक पूर्ण नहीं हुई। पवित्रतापूर्वक की हुई सभी प्रवृत्तियाँ स्वय निवृत्ति में विलीन हो जाती है। बार-बार मिलने का भाव न मिलने को सिद्ध करता है, ऐसा निरादर कब तक करते रहोगे? क्या कोई भी प्रेमी प्रेम-पात्र से दूरी पसन्द करता है, अथवा कोई भी प्रेमी प्रेम-पात्र से अपने को बचाता है? प्यारे, जो अपने को नही बचाता, वह अपने में ही प्रेम-पात्र का अनुभव करता है। गहराई से देखो, अपने समान और कोई प्रिय नही। उस अत्यन्त प्रिय अपने मे ही अपने प्रेम-पात्र का अनुभव करना सच्चा सम्बन्ध है। क्रिया तथा भाव द्वारा किया हुआ सम्बन्ध केवल व्यापार है। अथवा यो कहो कि मानी हुई अहता के जीवित रखने का उपाय है।

१४ अप्रेल १६४२

प्रवृत्ति-काल मे पूर्णप्रवृत्ति का अर्थ कार्य-कुशलता है,अर्थात् संसार मे रहने का सबसे अच्छा ढग है। ऐसा करने से निवृत्ति काल मे प्रवृत्ति का चिन्तन नही होता। जिस प्राणी को प्रवृत्ति का चिन्तन नही होता, उसको निवृत्ति-काल मे योग स्वय हो जाता है। योग से शक्ति-सचय होती है, तत्त्व-साक्षात्कार नही। शक्ति कल्पतरु है, अर्थात् इच्छाओ की पूर्ति मे समर्थ होती है। परन्तु तत्त्व-साक्षात्कार कल्पतरु का भी कल्पतरु है, क्योकि शक्ति को भी शक्ति देता है। अथवा यो कहो कि तत्त्व-साक्षात्कार से इच्छाओ की निवृत्ति होती है और योग से इच्छाओ का निरोध होता है।

संयोग मे ही वियोग का अनुभव करने से, वर्तमान मे ही तत्त्व-साक्षात्कार हो जाता है। सयोग में ही वियोग का अनुभव वह प्राणी नही कर सकता, जो प्रवृत्ति-काल मे पूर्ण प्रवृत्ति और निवृत्ति-काल में पूर्ण निवृत्ति नही रखता।

प्यारे, निवृत्ति तथा प्रवृत्ति अवस्थाएँ है। निवृत्ति तथा प्रवृत्ति दोनो से वियोग का अनुभव करना ही सयोग मे वियोग का अनुभव करना है। निवृत्ति तथा प्रवृत्ति का अभिमान मानी हुई अहमता के आधार पर जीवित है। प्रवृत्ति-काल में मानी हुई अहंता कार्यरूप में होती है और निवृत्ति काल में मानी हुई अहता कारणरूप में होती है। निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनो से ही सयोग होता है। उस संयोग से अपना वियोग कर लेना तत्त्व-साक्षात्कार का सर्वोत्तम साधन है। जिस प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का वियोग हो जाय, उसकी सत्ता को स्वीकार न करना, तत्त्व निष्ठा का सर्वोत्तम साधन है।

तत्त्व-साक्षात्कार तथा तत्त्व-निष्ठा हो जाने पर शक्ति तथा शान्ति स्वयं आ जाती है।

सन्त-वाणी

१४ अप्रैल १६४२

प्राकृतिक नियम के अनुसार अपने स्वभाव के अनुरूप उत्पन्न होकर प्रत्येक वस्तु प्रथम विकास पाती है और फिर वह विकास स्वाभाविक ही विलीन होने लगता है, यहाँ तक कि अन्त में उसका अभाव हो जाता है। परन्तु यदि विकास काल में किये हुए उपभोग का रस जीवित रहे, तो वह वस्तु फिर अव्यक्त-तत्त्व से शक्ति पाकर उत्पन्न होती है। अत रस की आसक्ति के कारण उत्पत्ति तथा लय का चक्र निरन्तर चलता रहता है। इस नियम को देख विचारशील तत्त्व-वेत्ताओ ने जीवन को चार विभागो मे विभक्त कर दिया है।

प्रथम, रुचि के अनुसार गुणो को एकत्र करना, फिर रुचि की पूर्ति के लिये एकत्रित किये हुए गुणो का उपभोग करना, तदनन्तर भोग का यथार्थ-ज्ञान कर उदासीनतापूर्वक भोग को योग मे वदल देना और फिर योग से असग होकर अर्थात् योग तथा भोग दोनो का अभाव कर निर्विशेष अर्थात् कल्पनातीत सर्वोत्कृष्ट निर्दोष तत्त्व से अभिन्न हो जाना, यही क्रम प्रत्येक क्रिया में होना चाहिये। जो क्रिया की जाय, अन्त में उससे उदासीन होकर उसके अभाव का अनुभव करना अनिवार्य है। प्रथम माने हुए भाव के अनुसार करना सीखो फिर प्रत्येक क्रिया से उदासीन होकर योग का अनुभव

करो तथा योग से शक्ति-सचय कर, त्याग के शरणापन्न हो, क्रिया का अभाव कर, अपने ही मे अपने प्रम-पात्र का अनुभव करो ।

जीवन मे उलझन तब आती है, जब हम प्राकृतिक नियम का तिरस्कार करते हैं । गहराई से देखिये, किसी भी परिस्थिति की किसी भी काल मे स्थिति नही होती, परिवर्तन का क्रम ही उत्पत्ति तथा लय के नाम से कहा जाता है, क्योकि किसी का लय होना ही किसी की उत्पत्ति तथा किसी की उत्पत्ति ही किसी का लय होना है । स्थिति की भावना तो बुद्धि का पूर्ण उपयोग न करने पर प्रतीत होती है । उत्पत्ति भी राग के आधार से प्रतीत होती है, क्योकि इच्छा बिना राग के नही होती और इच्छाशक्ति के बिना किसी भी वस्तु की उत्पत्ति तथा प्रतीति नही होती । राग वस्तुओ की स्थिति स्वीकृत होने पर होता है । वस्तुओ की स्थिति का स्वीकार करना बुद्धि का प्रमाद है । अतः उसके विपरीत करना बुद्धि का सदुपयोग है । बुद्धि का सदुपयोग होते ही प्राकृतिक सस्कृति का अनुसरण हो जाता है, प्राकृतिक संस्कृति का अनुसरण करते ही वस्तुओ, अवस्थाओ तथा परिस्थितियो से अरुचि हो जाती है, अर्थात् उसको फिर परिस्थिति आदि का बन्धन नही रह जाता ।

परिस्थिति आदि से मुक्त होते ही अपने ही में अपने प्रेम-पात्र का अनुभव स्वयं होता है । प्यारे, सच्चाई सुगमतापूर्वक प्राप्त की जा सकती है, किन्तु झुठाई में सच्चाई की भावना करने पर सच्चाई किसी प्रकार नही मिल सकती ।

१८ मई १९८२

भक्त अपनत्व करता है और प्रेम-पात्र प्रेम करते हैं। अपनत्व की पूर्णता होने पर सभी क्रियाओं का अभाव अपनत्व के भाव में विलीन हो जाता है और फिर कुछ भी करना शेष नही रहता।

---

२९ मई १९८२

यदि भिखारी बनना पसन्द है, तो ऐसे भिखारी बनो कि दाता को ही भिक्षा मे ले लो, जिससे बार-बार माँगना शेष न रहे। दृष्टि को दृश्य से हटा लो। चित्त को निराधार कर दो। परतन्त्रत पूर्वक जीवित रहने से स्वतन्त्रतापूर्वक मर जाना अच्छा है जो आपके विना किसी प्रकार भी रह सकता है, उसकी ओर मत देखो। आप उसके दरके भिखारी हैं, जो निरन्तर आपकी प्रतीक्षा करता है। प्यारे, प्रेम-पात्र को प्रेमी के सिवाय और कही स्थान नही मिलता, क्योंकि प्रेम-पात्र वहाँ निवास करते हैं जहाँ स्थान खाली हो। प्रेमी का स्वरूप प्रेमपात्र की अभिलाषा है, और कुछ नही। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि प्रेमी के विना प्रेम-पात्र किसी प्रकार नही रह सकते।

सन्त-वाणी

१२ जून १९८२

जो नहीं करना चाहिये उसके न करने से जो करना चाहिये वह उत्पन्न होता है। गहराई से देखिये, प्राकृतिक नियम

के अनुसार आँख देखने में स्वतन्त्र तथा सुनने मे परतन्त्र है। आँख को कभी सुनने की अभिलाषा नही होती, जब होती है तब देखने की होती है। अत प्रत्येक कर्त्ता कर्त्तव्य-पालन मे स्वतन्त्र है। परतन्त्रता जीवन मे तब आती है, जब प्राणी आसक्ति के कारण दूसरे के कर्त्तव्य को अपना कर्त्तव्य वनाता है। उन क्रियाओ का त्याग करो, जिनके करने में लेशमात्र भी परतन्त्रता अनुभव होती हो। जीवन में स्वाधीनता आ जाने पर सच्चाई और सच्चाई आ जाने पर स्वाधीनता आ जाती है। परतन्त्रता-पूर्वक सच्चाई प्राप्त नही की जा सकती। परतन्त्रतापूर्वक तो वही मिलती है कि जिससे जातीय एकता नही होती, क्योकि परतन्त्रतापूर्वक प्राप्त की हुई सभी वस्तुएँ अपने आप चली जाती हैं।

<u>१६ जून १९४२</u>

अपने में से विपयी भाव को निकाल दो। अहता के विप-रीत प्रवृत्ति नही होती। अपने मे ही अपने प्रेम-पात्र की स्था-पना कर लो। यही परम भजन है। जो प्राणी अपने से भिन्न मे अपने प्रेम-पात्र को देखते है, उनका प्रेम-पात्र से योग नही होता वल्कि सयोग होता है।

संयोग तथा योग मे भेद है। सयोग का वियोग अनि-वार्य है, योग का वियोग नही होता। योग एक वार और सयोग अनेक वार होता है। दृष्टि को दृश्य के विना स्थिर कर लो, व्यक्त तथा अव्यक्त दोनो ही दृश्य हैं। दोनो प्रकार के दृश्यो से असग होते ही अपने में ही अपने प्रेम-पात्र का अनुभव होगा। निराधार हो जाने पर ही चित्त पूर्ण स्वस्थ

होगा। सुख का अन्त कर दो। व्याकुलता की शरण लो। व्यर्थ चेप्टाओ का निरोध करो। ऐसा करने से व्याकुलता अथवा शान्ति स्वयं आ जायेगी। आगे पीछे का चिन्तन मत करो। समार मे समार के लिये रहो,अपनेलिये नही। अपने लिये अपने सिवाय और किसी की ओर मत देखो। जिसको संसार मे रहना आ जाता है, वह अवश्य ससार से पार हो जाता है।

सन्त-वाणी

प्रेमी तथा प्रेम-पात्र का विवरण

प्रेम प्रेम-पात्र करने हैं, प्रेमी नही, क्योंकि प्रेम वह कर सकता है, जिसको अपने लिये कुछ भी आवश्यकता न हो। प्रेमी को प्रेम-पात्र की आवश्यकता होती है, अतः प्रेमी वेचारा प्रेम नही कर पाता।

प्रेमी केवल प्रेम-पात्र से अपनत्व करता है। अपनत्व परम पवित्र तथा सवल भाव है, क्योकि अपनत्व हो जाने पर और किसी प्रकार की योग्यता सम्पादन करना शेष नही रहता। अपनत्व वह वल है, जिसके आ जाने पर प्रेम-पात्र प्रेमी का स्मरण, चिन्तन और ध्यान करते है, अथवा यो कहो कि प्रेमी को प्रेम-पात्र प्यार करते हैं। प्रेम-पात्र के प्यार के सिवाय और किसी का प्यार स्वीकार न करना प्रेमी का परम कर्त्तव्य है।

जव तक प्रेमी को प्रेम-पात्र का प्रेम नही मिलता, तव तक प्रेमी असह्य व्याकुलता का अनुभव करता है। पवित्र

व्याकुलता प्रेमी का स्वरूप है। उस व्याकुलता को अखण्ड आनन्द में विलीन कर देना प्रेम-पात्र का प्रेम है, अतः यह भी भली प्रकार सिद्ध हो जाता है, कि प्रेम-पात्र प्रेम करते है और प्रेमी अपनत्व करता है ।

पूर्ण अपनत्व करने के लिये अस्वाभाविक सयोग अर्थात् माने हुए संयोग काल मे ही वियोग अनुभव करना परम अनिवार्य है, क्योकि सद्भावपूर्वक पूर्ण अपनत्त्व दो विरोधी सत्ताओं मे नहीं हो सकता है ।

अनेक माने हुए संयोगो में से जब कभी किसी एक सयोग का वियोग होता है,तब प्राणी घोर व्याकुलता का अनुभव करता है। यदि सभी सयोगो का वियोग हो जाय, तब कितनी उत्कट व्याकुलता होगी, वह कहने मे नही आती, जो प्राणी उस अनन्त व्याकुलता से बचने का प्रयत्न करता है, वह सच्चा प्रेमी नही हो सकता । जिस प्रकार सभी का वियोग होने पर घोर व्याकुलता का अनुभव होता है, उसी प्रकार स्वाभाविक नित्य योग होने पर अपार असीम अखण्ड आनन्द का अनुभव होता है ।

स्वाभाविक नित्य योग प्राप्त करने में प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है, क्योकि अस्वाभाविक सयोग का वियोग तो बिना ही प्रयत्न हो जाता है । साधारण प्राणी वियोग-काल मे भी सयोग का भाव केवल मानते रहते हैं । उस मानी हुई भावना मे सद्भाव होने के कारण वियोग से उत्पन्न होने वाली परम पवित्र व्याकु-लता प्रकाशित नही हो पाती । व्याकुलता के विना स्वाभाविक नित्य-योग सर्वथा असम्भव है, अतः अस्वाभाविक सयोग में वियोग का अनुभव करना प्रेमी के लिये आवश्यक है । अस्वा-

भाविक सयोग दो प्रकार के होते है, 'यह मैं हूँ' अथवा 'यह मेरा है' अर्थात् कुछ वस्तुओ को अपने में रख लिया जाता है और कुछ वस्तुओ में अपने को रख दिया जाता है। जिन वस्तुओ में अपने को रख दिया जाता है, उन वस्तुओ के प्रति 'ये मेरी हैं' ऐसा भाव रहता है और जिन वस्तुओ को अपने मे रख लिया जाता है, उनमें 'यह मैं हूँ' ऐसा भाव रहता है।

प्रथम अपने को जिन वस्तुओ में रख दिया है, उनसे हटा लो, क्योकि अपने मे वस्तुभाव अथवा सीमित भाव अथवा अवस्थाभाव आने पर ही ससार की अनेक वस्तुओ की आवश्यकता होती है। यदि अपने में से वस्तु आदि का भाव निकाल दिया जाय तो फिर किसी भी वस्तु की आवश्यकता शेष नहीं रहती।

अपने मे से वस्तु आदि का भाव निकल जाने पर प्राणी का जीवन प्रेम-पात्र के रहने योग्य हो जाता है, क्योकि प्रेम पात्र निरन्तर उसी मे निवास करते हैं, जिसने अपने मे से सभी को निकाल दिया हो तथा अपने को सभी से हटा लिया हो। अथवा यो कहो कि सम्बन्ध-भाव अथवा मानी हुई अहता का भाव शेष न रहने पर प्रेम-पात्र स्वय निवास करते है।

प्रेम-पात्र आने के लिये प्रतीक्षा कर रहे हैं, क्योकि वह केवल स्थान न मिलने के कारण नही आ पाते। प्यारे, प्रेमी से अधिक प्रेम-पात्र को प्रेमी की आवश्यकता है, क्योकि प्रेमी के सिवाय और कही ससार में प्रेम-पात्र को स्थान नही मिलता।

प्रेमी प्रेम-पात्र मे और प्रेम-पात्र प्रेमी मे निरन्तर निवास करते है।

ॐ आनन्द ॐ आनन्द !!!